श्रीमद्भगवद्गीता
मोक्ष ही मात्र लक्ष्य है!
सनातन
दिव्य दर्शन
आब्रह्म भुवनालोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य
मामेकं शरणं व्रज

श्रीमद्भगवद् गीता

दिव्य दर्शन

प्रथम खण्ड

(अध्याय १ से ६)

प्रवर्णितम

श्री स्वामी सनातन श्री

★

—: सम्पादक :—

श्री हरिनाथ प्रसाद वर्मा

श्री धनंजय कुमार कुटेमाटे

श्री राजेन्द्र नाथ पाण्डेय

सम्पादकीय

भगवान वेद व्यास द्वारा प्रवर्णित महाकाव्य महाभारत का अंग है श्रीमद्भगवद्गीता ! भगवान श्री कृष्ण ने वीरवर अर्जुन को महाभारत के महासमर के बीच तत्व का उपदेश किया था ।

श्रीमद्भगवद्गीता के अट्ठारह अध्याय हैं। महाभारत के पर्व भी अट्ठारह हैं। महाभारत युद्ध भी अट्ठारह दिन ही हुआ था। महाभारत युद्ध में लड़ने वाली सेनायें भी अट्ठारह अक्षोहिणी थीं। यजुर्वेद का अन्तिम अर्थात चालीसवाँ अध्याय, जो कि ईशावास्य उपनिषद् के रूप में जाना जाता है, उसकी ऋचायें भी अट्ठारह ही हैं। महाराज कुरू द्वारा सम्पादित हुआ कुरूयज्ञ, जिसके कारण उस स्थल का नाम कुरूक्षेत्र पड़ा था, वह यज्ञ भी अट्ठारह दिन में सम्पादित हुआ था। सन्यास को प्राप्त होते योगी का, सन्यास धर्म प्रवेश करने का कृत्य भी अट्ठारह दिन में ही पूर्ण होता था। ऐसा क्यों ?

भगवान श्री वेद व्यास महाभारत महाकाव्य के आरम्भ में ही भगवान श्री ब्रम्हा तथा भगवान विनायक गणपति की कथाओं द्वारा इस महाकाव्य को रहस्यमय क्यों बनाते हैं, "हे विनायक ! मेरे ग्रन्थ के रहस्य को मैं जानता हूँ ! शुकदेव जानते हैं। संजय भी जानता है अथवा नहीं, मुझे इसमें संदेह है। आप भी नहीं जानते हैं।" ऐसा क्यों ?

श्री ब्रम्हा ने भी आरम्भ में कहा है, "वेद व्यास ! जिस महाकाव्य की तुमने कल्पना की है, उससे विश्व के लोग सदा तुम्हारे ऋणी रहेंगे । जों इसमें नहीं होगा, फिर वह विश्व में कहीं नहीं होगा । सहस्त्रों युगों तक भाष्यकार इसका भाष्य करेंगे ! कवि मनीषी गण इससे प्रेरणा पाकर कविता और कथा कहेंगे ! फिर भी धरती के लोग जान न पावेंगे तूने कहा क्या है ?"

स्वयं वेद व्यास ने कहा था कि उसने सोलह लाख श्लोकों के महाकाव्य की रचना की है । जिसके बारह लाख श्लोक देव लोक के लिये हैं, जिसे नारद देव लोक में गाकर सुनावेंगे । तीन लाख श्लोक पितृ लोक के लिये हैं ! जिसे पितृ लोक में शुकदेव जी गाकर सुनायेंगे ! एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ मृत्यु लोक के लिये है ! इसका रहस्य क्या है ?

ऐसे असंख्यों रहस्यों का अनावरण कर दिया है ; सहज, सरल तथा सरस वाणी में दिव्य योगी, परम संत, श्री स्वामी सनातन श्री ने ! सारे रहस्य खुल रहे हैं, इस अति रहस्यमय व्यक्तित्व से ! इस ग्रन्थ के साथ ही "रहस्य लीला : जादू और जादूगर" का भी अवलोकन **अवश्य** करें !

—**सम्पादक**

श्रीमद्भगवत गीता सनातन धर्म का संविधान है।

दिव्य दर्शन

श्री मद्भगवद्गीता

महाभारत ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि से उभरता एक विशुद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इस महाकाव्य की एक विशेषता और भी है कि ये ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, ज्योतिष विद्या, वाणिज्य आदि सभी स्तरों पर हर प्रकार के ज्ञान को देने वाला एक अद्भुद् ग्रन्थ है।

कहते हैं कि जो इस ग्रन्थ में नहीं है वह फिर कहीं नहीं है। इस ग्रन्थ की इन विशेषताओं के साथ एक विशेषता यह भी जुड़ी है कि ये एक ओर तो ऐतिहासिक घटनाक्रम को हम तक पहुंचाता है। उस इतिहास को जो कि आज से लगभग छः हजार वर्ष पूर्व का घटनाक्रम है। उसको स्पष्ट करता है। दूसरी ओर ये ग्रन्थ हमारे जीवन को सर्वांग सजाता सवांरता हुआ आगे बढ़ता है और तीसरे स्तर पर ये महाकाव्य विशुद्ध आध्यात्मिक होकर हर व्यक्ति के जीवन की कहानी बन जाता है। इतिहास के लम्बे अन्तरालों को पार करते हुए जब ऐतिहासिक घटनाक्रम आगे बढ़ते हैं तो उन्हीं कथाओं को पृष्ठभूमि में रखकर सन्त, ऋषि, मनीषीजन और कवि आदि उनको सवाॅरने लगते हैं। उनके द्वारा समाज को सुसंस्कृत करने; हर व्यक्ति के जीवन को पवित्र करने के उद्देश्यों को लेकर उन्हीं घटनाक्रमों को महाकाव्य में रचने लगते हैं। धीरे-धीरे ये ग्रन्थ ऐतिहासिकता की पृष्ठभूमि को छोड़ते हुए सामाजिक और आध्यात्मिक हो जाते हैं।

महाभारत काव्य में; भगवान वेदव्यास ने जो इसके रचयिता हैं, कथा के आरम्भ में ही अपने इन उद्देश्यों, मन्तव्यों, को स्पष्ट किया है। वे अपनी कुटिया में विचार मग्न बैठे हैं। उनके मन में एक चिन्ता है। वे सोचते हैं कि उन्होंने भगवान गणपती की कृपा से जो वेद रूपी ज्ञान के महान विशाल उन्नत पर्वतों का संकलन किया है, वे भी कलियुग के लोगों के लिए ग्राह्य नहीं रहेंगे। क्योंकि वे इतने ऊंचे ज्ञान के शिखर हो जाएंगे जहां तक साधारण सहज मनुष्य का पहुंच पाना सम्भव नहीं होगा। वेदव्यास इसी विचार में खोये हैं कि

इतने उन्नत पर्वतों पर पहुंचने के लिए एक सीढ़ी भी देनी चाहिए। जिस सीढ़ी से होकर भूतल के मनुष्य उस तक पहुँच सके।

कथा आती है कि भगवान ब्रह्मा जी ऐसे समय में कुटिया में पधारते हैं। उनको देखकर वेदव्यास उठते हैं उनका उचित आदर करते है पाद्य, अर्घ, पूजा आदि करके वेदव्यास उन्हें प्रणाम करते, नत मस्तक होकर बैठ जाते हैं। ब्रह्मा जी वेदव्यास से पूछते हैं :—"वेदव्यास! आप किस चिन्ता में खोये हुए हैं ?"

वेदव्यास उत्तर देते हैं "भगवन् वेद रूपी उन्नत शिखर तक पहुँचने के लिए मैंने महाभारत रूपी एक महाकाव्य की कल्पना की है। मेरा यह काव्य सोलह लाख श्लोकों का होगा। जिसके बारह लाख श्लोक देवलोक के लिए होंगे, जिन्हें देव ऋषि नारद, देवलोक में गाकर सुनाएंगे। तीन लाख श्लोकों का महाकाव्य पितृ लोक के लिए होगा जिसको शुकदेव जी पितृ लोक में गाकर सुनाएंगे। भूतल के लिए, धरती के लिए, भूतल के मनुष्यों के लिए, एक लाख श्लोकों का महाकाव्य महाभारत प्रगट करने की मेरी इच्छा है।"

वेदव्यास विस्तार से उस महाकाव्य के विषय में ब्रह्मा जी को स्पष्ट करते हैं। तब "ब्रह्मा जी कहते हैं,:-वेदव्यास तुम्हारा ये महाकाव्य अद्भुद और विलक्षण होगा। युगों-युगों तक ये गाया जाएगा। भूमण्डल के मनुष्य तुम्हारे इस महाकाव्य की आरती और पूजा करेंगे। यह महाकाव्य कामधेनु गाय की भांति ज्ञान, विज्ञान तथा जीवन के सभी स्तरों को अधिक उन्नत करेगा। वेदव्यास जो इस ग्रन्थ में नहीं होगा, वह फिर कहीं नहीं होगा। हजारों वर्षों तक कवि काव्य लिखेगें। भाष्यकार भाष्य करेंगे और ज्ञान, विज्ञान के जानने वाले इसमें ज्ञान विज्ञान की अद्भुद धाराओं को पाएंगे। हजारों वर्षों तक लोग इसकी पूजा करेंगे। परन्तु वेदव्यास हजारों-हजारों वर्षों तक वे जानेंगे नहीं कि तूने कहा क्या है।"

इस संक्षिप्त कथा में जो कि महाभारत में, आरम्भ में ही आती है वेदव्यास, ब्रह्माजो को पात्र के रूप में प्रकटकर, हमारे सामने एक अद्भुद और एक विचित्र बात कह रहे हैं। महाभारत को भूतल के मनुष्य हजारों वर्षों तक पूजेंगे। आरती करेंगे ज्ञान और विज्ञान का यह अद्भुद समीकरण होगा। उनके जीवन का हर स्वरूप यहीं से उभरेगा और उनके जीवन के हर अंग को वे ही सजाए सवांरेगें। महाभारत ग्रन्थ के द्वारा कवि और भाष्यकार उसमें भाष्य करेंगे परन्तु यहां वेदव्यास हमें चुनौती दे रहे हैं ?

"मेरे ग्रन्थ की पूजा भी तुम करोगे। मुझे तुम ठुकरा भी नहीं पाओगे। परन्तु हजारों वर्षों तक तुम जान भी न पाओगे कि मैंने क्या कहा है।"

एक बड़ी ही विचित्र बात है बहुत से काव्य महाकाव्य, बहुत से कथाकार इतिहास के पन्नों में से उभरकर हमारे सामने आते हैं। आज तक एक से एक सफल लेखक हुए हैं। परन्तु किसी भी लेखक ने, किसी भी कथाकार ने, कभी भी हमें ये चुनौती न दी।

"कभी भी तुम मेरे ग्रन्थ को अस्वीकार नहीं कर सकते। परन्तु हजारों सालों तक तुम जान भी न पाओगे इस ग्रन्थ के रहस्य को कि मैंने कहा क्या है।"

ग्रन्थ के आरम्भ में ये चुनौतियां, देने वाले वेदव्यास की इस चुनौती को ही मानकर के हम भी श्री मद्भगवद्गीता में प्रवेश करें। हम इस बार वेदव्यास की चुनौती को यदि पूरी तरह से न भी जान सके, तो भी हम बहुत गहराई तक पैठ सकते हैं। और उन मोतियों को, उन जवाहररातों को, ढूंढ़ कर ला सकते हैं, जो इस श्रीमद्भगवद गीता में और महाभारत रूपी महासागर की तलहटी में वेदव्यास जी छिपाये हुए हैं।

दूसरी कथा और भी है। वह भी बड़ी विलक्षण है। जब ब्रह्माजी ने कहा कि इस ग्रंथ को अवश्य प्रकट करो। तो वेदव्यास ने ब्रह्माजी के सामने दूसरी समस्या रखी।

"भगवन् इस ग्रन्थ को मैं योग मार्ग से प्रकट करूंगा। ऐसे समय में लिख पाना मेरे लिए संभव नहीं है। इसका लिपिक कौन होगा? इसका लेखक कौन हो? इस ग्रन्थ को लिखने वाला कौन होगा? ब्रह्मा जी ने उत्तर दिया :—

"वेदव्यास जिसने वेदों के संकलन में तुम्हारे साथ सहयोग किया है वे भगवान विनायक, गणपति, श्री गणेश ही इस ग्रन्थ को लिखेंगे। वे ही इस महाकाव्य के लेखक होंगे।"

यह कहकर ब्रह्माजी वेदव्यास को आशिर्वाद देते हुए अर्न्तध्यान हो जाते हैं। तब वेदव्यास गणपति, गणेशजी, का ध्यान कर उनका आह्वान करते हैं। मंगलमूर्ति विनायक प्रकट हो जाते हैं। वेदव्यास उनके सामने इस महाकाव्य की रचना में उनके लेखन की, उनके लिपिक होने की, बात उनके सामने रखते हैं। गणपति मना कर देते हैं और कहते हैं :— "हमारे पास इतना समय नहीं है कि हम तुम्हारे पास बैठकर इस ग्रन्थ को लिखे।" वेदव्यास पुनः प्रार्थना करते हैं। ब्रह्मा जी ने उनको जो शब्द कहे हैं, उन्हीं शब्दों को दोहराते हैं। गणपति जी एक शर्त पर स्वीकार करते हैं कि वेदव्यास बोलते जाएं। गणपति लिखते

जाएंगे। लेकिन जहाँ वेदव्यास की वाणी रुकी और जहाँ गणपति जी की कलम रुकी, उसके आगे वे कुछ नहीं लिखेंगे।

वेदव्यास पूछते हैं:– "क्या आप हमको थोड़ा सा समय भी सोचने के लिए नहीं देंगे?" गणपति ने कहा–"एक क्षण का शतांश भी सोचने का समय नहीं दूंगा।"

तब वेदव्यास एक शर्त रखते हैं गणपति के सामने। "हे गणपति जी! आपकी इस शर्त को मैं स्वीकार करता हूं कि जहाँ मेरी वाणी रुकी, आपकी कलम रुक गयी। परन्तु मेरी भी एक शर्त है कि आप मेरे ग्रन्थ के आध्यात्मिक रहस्य को जाने बिना श्लोकों को नहीं लिखेंगे। जब तक कि आप उसका अन्तरनिहित सत्य, जो ऋतम् है; उसको जाने बिना आप भी इस महाकाव्य को नहीं लिखेंगे।" गणपति ने कहा यह शर्त भी हमें स्वीकार है।"

यह शर्त यहाँ केवल गणपति के लिए ही नहीं; हम सबके लिए भी तो है। क्या हमने सचमुच इस महाकाव्य के उन रहस्यों को जाना है? जो कि यहाँ गणपति और वेदव्यास में शर्त लग रही है? यदि हम इस ग्रन्थ को गणपति और वेदव्यास की शर्त के स्तर पर नहीं जान पाए। तो हमने भले ही इस ग्रन्थ से बहुत कुछ पाया हो; यह भी उतना ही सच है, कि हमने वेदव्यास की भावना को, वेदव्यास द्वारा दिये हुए इस अमृतमय ज्ञान को, अभी तक नहीं पाया है। वेदव्यास और गणपति में जब ये शर्त लगती है तो वेदव्यास जी पुनः गणपति को सचेत करते हैं :–

"गणपति जी एक बार फिर विचार कर लो। इस ग्रन्थ के रहस्य को मैं जानता हूं। शुकदेव जानते हैं। संजय भी जानते हैं अथवा नहीं; मुझे इसमें संदेह है। इस धरती पर कोई नहीं जानता है। हे मंगलमूर्ति विनायक! आप भी नहीं जानते।"

इस चुनौती को भी गणपति स्वीकार कर लेते हैं वे कहते हैं "फिर भी मुझे तुम्हारी शर्त स्वीकार है।"

इस प्रकार दोनों शर्त से बंधे हुए, उस महाकाव्य की रचना करने बैठ जाते हैं। ऐसा कथा में आता है कि बारम्बार गणपति कलम थामें बैठे हैं और वेदव्यास जी पूछ रहे हैं। "हे विनायक अगले श्लोक भी बोल दूं क्या?"

भगवान गणपति उत्तर देते हैं :–"वेदव्यास ठहरो पहले मुझे इस श्लोक में दिये रहस्यों को जान लेने दो।"

कैसा रहस्य है ये ! कैसी रहस्यमयी कथा है । जहां स्वयं भगवान विनायक भी, जो कि ब्रह्मा के समान ही पूर्ण बुद्धिमत्ता के प्रवर्तक माने गये हैं, उनकी भी कलम रुक जाती है। यह वह ग्रन्थ है । इस ग्रन्थ का रहस्य जानने के लिए हम सब श्रीमद्भगवद्गीता के इस महाकाव्य में प्रवेश करें । इस ग्रन्थ के रचयिता द्वारा दिये हुए रहस्यों को खोजने का प्रयास करें । श्रीमद्भगवद् गीता में हम सब प्रवेश करें ।

वेदव्यास जी महाभारत भगंवान गणपति से लिखवा रहे हैं । ये क्रम चलता हुआ श्रीमद्भगवद् गीता पर आता है। वेदव्यास गणपति से कहते हैं कि वे लिखें 'धृतराष्ट्र उवाचः' अर्थात धृतराष्ट्र ने कहा ।

परन्तु गणपति कैसे लिख दें, "धृतराष्ट्र उवाच" शर्त के मुताबिक उन्हें धृतराष्ट्र कौन है ? उसका अपरिवर्तनीय सत्य अर्थात ऋतम् अर्थात वह सत्य जो किसी युग और किसी काल में नहीं बदलता है जो सर्व व्याप्त है ? इस सत्य को जाने बिना गणपति भी शर्त के मुताबिक लिख नहीं सकते हैं । विनायक सोचते हैं कि कौन है वह "धृतराष्ट्र" धृ धातु है । धृत माने पकड़ना, जकड़ना । राष्ट्र माने भूमण्डल । भूमण्डलों को पकड़ने, जकड़ने वाला, अपने पंजों में खेलने वाला, धृतराष्ट्र कौन है ? जो अंधा भी है ।

गणपति पुनः विचार करते हैं कि किसी भी व्यक्ति को उसके वंश वृक्ष से ही जाना जा सकता है । धृतराष्ट्र वैवस्वत मनु की संतानों में है । उनके ही वंशज कहलाते हैं । मनु कौन है? ७१गुणे४३२००० वर्ष के समय को एक मनु कहते हैं। मनु काल का ही नाम है । शतरूपा उसकी पत्नी है । काल पत्नी शतरूपा कौन है ? जो शत-शत रूप धारण किये हमारे चारों ओर प्रकृति है, वही काल अर्थात समय की पत्नी, अर्थात शतरूपा कहलाती है ।

जिस प्रकार आदमी का बेटा आदमी ही होता है। पशु की संतति यथा पशु होती है । उसी प्रकार काल के वंशज होने के कारण अंधा काल ही धृतराष्ट्र है । जिसकी पत्नी गान्धारी है । खूब सूरत आँखों वाली गान्धारी, परन्तु वह अपनी आँखों पर पट्टी बाँधती है । इसी को वह अपना पतिव्रत धर्म समझती है । स्वयं को अंधा करने वाली गान्धारी ही तो है ।

किसी अंधे व्यक्ति के साथ आँखों पर पट्टी बाँधना क्या पत्नी के लिए पतिव्रत धर्म हो सकता है ? अथवा अपनी ही आँखों को पति की आँखें बनाकर उनकी सेवा में लगना, उसकी पीड़ा को दूर कर स्वयं उसकी आँखे बन जाना । अन्धे के साथ अन्धा होकर जीना इसे

मैं भी तो अपने जीवन में पतिव्रत धर्म मान बैठा हूं। जबकि आँखों पर पट्टी बाँधना अपने ही पति का उपहास ही करना है। परन्तु गान्धारी अपनी आँखों पर पट्टी को बाँधना ही पतिव्रत धर्म समझती है। हम भी तो इस क्षण भंगुर जगत में अपने तथाकथित धर्मों को ही सर्वोपरि मान घट-घटवासी अजर-अमर अविनाशी आत्मारूपी कृष्ण को भूल बैठते हैं। गान्धारी की तरह पट्टियां बांधकर भौतिकताओं को ही सब कुछ मान बैठते हैं।

गणपति बिचारों में खोये हुए वेदव्यास की अनूठी पहेलियों के रहस्यों में उतर रहे हैं। सभी स्तरों पर अन्धे काल और आँखों पर पट्टी बाँधने वाली इस माया के खेल उनके सामने चलचित्र की तरह घूम रहे हैं।

—:o:—

आप महाप्रभुओं की श्रद्धा एवं भक्ति की बलिहारी है। श्रीमद्भगवद् गीता एक ब्रह्माण्ड व्यापी सनातन दर्शन हैं। यह किसी सम्प्रदाय विशेष की पुस्तक नहीं है। सम्पूर्ण भूमण्डल, लोक-लोकान्तर, देव, ब्रह्म भी इसके विस्तार को पा सकते नहीं हैं। दिव्य चक्षु द्वारा ही इसके तत्त्व को पाया जा सकता है।

एक ओर हैं धृतराष्ट्र, गान्धारी के पुत्र कौरव और उनके सहयोगी सारे !

दूसरी ओर हैं पाण्डु, कुन्ती पुत्र पाण्डव और उनके मित्र सहयोगी सारे !

धृतराष्ट्र के सारथि हैं संजय ! पाण्डु पुत्र के सारथि हैं कृष्ण !

एक सारथि संजय अपने महारथी अन्धे धृतराष्ट्र को सुनाता है कहानी—दूसरे सारथि कृष्ण की। इधर भी सारथि रहस्यों का अनावरण कर रहा है धृतराष्ट्र के लिये—उधर भी सारथि रहस्यों का अनावरण कर रहा है पाण्डुपुत्र अर्जुन के लिये।

अरे ! यह लीला क्या है ? कैसा है समर ? क्या रहस्य है इसका! यह कैसा है धर्मयुद्ध? यहां महारथियों से अधिक महत्त्व सारथियों को मिल रहा है ? आओ करें दिव्य—दर्शन !

पहले जानें धृतराष्ट्र को। यह अन्धा राजा कौन है ? 'धृत' का शब्दार्थ है पकड़ना, जकड़ना 'राष्ट्र का अर्थ है सम्पूर्ण जड़-जीवन-चेतन ! धृतराष्ट्र का शब्दार्थ हुआ—जिसने सम्पूर्ण जन-जीवन, जड़-चेतन को अपने पंजों में जकड़ा हुआ है। अरे ! कैसा विचित्र है यह अन्धा राजा; जिसने जकड़ रखा है सम्पूर्ण जड़-चेतन को ! कौन है यह ?

पहचानो ! मेरे माधववृन्द ! अरे जानों––इस अन्धे धृतराष्ट्र को ! यह काल है ! समय है। जो अन्धा है। इसके आगे सब हारते हैं ! जो जीतते हैं युद्ध––परास्त कर शत्रुओं को ! यह 'काल' अपनी समय की अन्धी मार से––उसके साम्राज्यों को नष्ट कर देता है ! उन्हें भी भस्मी में बदल देता है। वे इतिहास का अंग मात्र बनकर रह जाते हैं। अन्त में जीतता है यही समय, 'वक्त' 'काल' ! जीतने वाला सम्राट भी; अन्त में भस्मी में बदल—सर्वहारा पराजय को प्राप्त होता है। अट्टहास करता है अन्धा काल धृतराष्ट्र]

यह अन्धा है क्यों ? इसलिये कि इसके पास न्याय बोध नहीं है। राजा हो या रंक, पुजारी हो या व्यभिचारी, मन्दिर हो या मदिरालय––यह धृतराष्ट्र सबको एक ही गति से घटाता, क्षीण करता––अतीत के अन्तराल में फेंकता, इतिहास का अंग बनाता चलता है।

यह अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच का भेद नहीं कर सकता है। इसकी अन्धी मार सर्वत्र समान है। यह अन्धा है।

कितना विस्मयकारी है बोध इसका! अन्धा धृतराष्ट्र——जकड़े है सम्पूर्ण जन-जीवन-चेतन-जड़ को ? कमाल है ! इस अन्धे बाज के पंजों से कोई बच नहीं पाता है। प्रत्येक चिन्तक, विचारक, विद्वान, धर्माचार्य–पुनः पुनः इसी काल के पंजों में फंस जाता है। अरे ! न कोई बच पाता है ! इसकी कौन सी सम्मोहनी शक्ति है ? कैसे खींच रहा है यह ! कौन सी गुरूत्वाकर्षण शक्ति है ?

गान्धारी ! हाँ ! गान्धारी!! धृतराष्ट्र की पत्नी गान्धारी!! महामाया! कौरवों की जननी! दुर्योधन, दुःशासन आदि मायाओं की माता! आंखों पर अपनी पट्टी बांध कर रखती है। सुन्दर विशाल नेत्र, हैं परन्तु अन्धी होने का स्वांग भरती है।

जानों रे मेरे बाल-गोपालों! इस महामाया गान्धारी को! बाँधती है पट्टी अपनी आंख पर——और अन्धा हो उठता है सम्पूर्ण जन-जीवन-चेतन! प्रत्येक बुद्धिमान, चिन्तक, विचारक, वैज्ञानिक, राजा धर्माचार्य——सब अन्धे हो जाते हैं——आंखों के होते हुए! प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि आज भी भोजन से एक बूंद रक्त की बना नहीं सकता! एक बोरा भस्मी से एक दाना गेहूं का बना नहीं सकता। न कोई साथ आया है ; न साथ जायेगा मकान, दुकान, स्वजन सब यहीं धरे रह जावेंगे——और दुर्लभ जन्म मनुष्य का खोकर–चिता पर बदल भस्मी में——पानी का संग कर——डोलता-भटकता-सड़ता फिरेगा शरीर उसका! न पत्नी ही बदल पावेगी स्थिति उसकी, और न कोई स्वजन, धन-वैभव ही।

यह सब जानते हुए भी, गान्धारी की पट्टी के कारण चक्रवत् दौड़ता फिर रहा है। छितरा के स्वर्ग जीवन का——राख के कण बटोर रहा है। आतुर है——चन्द मुठ्ठी राख में बदल जाने को! महामाया गान्धारी की पट्टी के कारण ही तो अन्धे धृतराष्ट्र के पंजों में फंसा है सम्पूर्ण जन-जीवन चेतन! इसी महामाया के कारण ही तो कोई निकल नहीं पाता है।

धृतराष्ट्र और गान्धारी के सौ पुत्र ही वे सौ प्रकार की लिप्सायें हैं जिनकी पकड़ में आ जाता है सम्पूर्ण जगत! धृतराष्ट्र के पुत्रों को श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में "धार्तराष्ट्र" कहकर सम्बोधित किया गया है। इसके दो स्पष्ट शब्दार्थ हैं। प्रथम धृतराष्ट्र के पुत्र होने से

"धार्तराष्ट्र" कहलाये। दूसरा और शुद्ध अर्थ है--"हंस से सुन्दर पक्षी जिनकी चोंच व पंजे काले हैं तथा जो पशु-पक्षियों को नोच-नोच कर खाते हैं।"

पहचानों इन कौरवी मायाओं को! यह 'धार्तराष्ट्र' रूपी, दूर से शुभ्र-धवल-मोहक दिखने वाली, मायायें जब पकड़ लेती हैं तो काले पंजे एक बार छाती में धंसकर फिर बाहर नहीं निकलते हैं आसानी से। काली चोंच से फिर नोच-नोच कर खाते हैं 'धार्तराष्ट्र!'

आह! यदि ये धार्तराष्ट्र दूर से शुभ्र, धवल न दिखें–ये लिप्सायें इतनी मोहक, सुन्दर न प्रतीत हों--तो कौन फंसेगा इन लिप्साओं के चक्कर में? दूर से सुन्दर हंस सी दिखती हैं ये! मुग्ध हो मनुष्य इनकी कामना करने लगता है! देखो! कैसा विचित्र खेल है कि मोहित होता है अपनी मौत से---और हंस सी लिप्साओं रूपी मौत की कामना करने लगता है।

दूर से दिखते सुन्दर हंस रूपी मायायें समीप आने लगती हैं। मोहित मनुष्य उनकी सुन्दरता को निहारते हुए उनको पाने की कामना करते रहते हैं। हंस सी शुभ्र, धवल मायायें गगन से उतरती शनैः शनैः करीब आने लगती हैं। मुग्ध, स्तब्ध निहारते रह जाते हैं प्राणी!

तभी कराह और चीत्कार; सिसकियाँ और क्रन्दन; में सम्पूर्ण वातावरण डूब जाता है। हंस सी दिखने वाली मायाओं ने अपने काले पंजो में उनके शरीर जकड़ लिये हैं। काली चोचों से नोच रहे हैं उनके मांस को! आह! कितनी भयानक और पैशाचिक सुन्दरता है इन मायायों की। एक-एक प्राणी को नोच रहे हैं ये शत-शत हंस रूपी मनुष्य भक्षी बाज! तभी तो दुःखी है जग सारा! दुःख, पीड़ा, आतंक, भय, व्याप्प है चहुँ ओर!

ये कौरव हैं! ये धार्तराष्ट्र हैं!! इन्हीं से दुखी सम्पूर्ण जगत है। इन्हीं के कारण फंसा हुआ है प्रत्येक शरीरधारी! निकल नहीं पाता है अन्धे काल के पंजों से! असहाय, नोचा जाता है निरन्तर, इन लिप्साओं के द्वारा। धीरे-धीरे इस पीड़ा और यन्त्रणा में भी सुख ढूंढ़ने और स्वयं को भुलाने का प्रयास करने लगता है। परिस्थितियों का दास बन–दासता का समझौता कर--बदल चन्द मुट्ठी राख में--चल देता है पुनः उद्धार को!

देख रहा हूं मैं--शत-शत धार्तराष्ट्रों को! सारी धरती पर छाये हैं। गगन आच्छादित है! मूक, मुग्ध मनुष्य स्तब्ध से देख रहे हैं। फिर चीत्कार!!! अरे मधुसूदन! जागो!

धार्तराष्ट्रो ने भू-मण्डल कम्पायमान कर दिया है। नोच रहे हैं तुम्हारे ग्वाल-बालों को! इस दुखी, त्रस्त भयाक्रान्त, दिशा-विहीन जन-जाति की रक्षा करो! कौरवों का अत्याचार अति भारी है कैसा भयंकर शब्द है ! दौड़ो ! मेरे माधव फूंककर 'पाञ्चजन्य' उड़ाओ इन सुन्दर से दिखने वाले, घृणित हत्यारों को

धृतराष्ट्र का सारथि है संजय कौन है यह संजय ? संजय यर्थात् अमर! कौन है यह अमर सारथि अन्धे काल का ? काल का सारथि कौन हो सकता है ? "वर्तमान"

जी हाँ संजय वर्तमान है। नित्य सनातन है। समय इसी 'वर्तमान' सारथि द्वारा ही चलता––अतीत को प्राप्त होता है।

अन्य कौरव पक्षीय योद्धा उप लिप्साओं के प्रतीक हैं। मायायों का महासमर ही महा-भारत है ! अब आइये थोड़ा पाण्डु पक्ष का भी अवलोकन करें।

कौन है पाण्डु? कौन हैं ये पांचों पाण्डव ? सारथि कृष्ण कौन हैं ?

जानों रे मित्रों पांच तत्व से बना यह शरीर ही पाण्डु है। प्रत्येक शरीरधारी पाण्डु है। पांच तत्व से बने इस शरीर पाण्डु की पत्नी कुन्ती है। कुण्ठा से, कुन्तल सा ज्ञान, कुन्त की तरह कुरेद-कुरेद कर लाने वाली चेतना शक्ति है। जड़ता से ज्ञान को प्राप्त होता है यह शरीर !

कौन हैं ये पांचों पाण्डव ?

शरीर पाण्डु की पाँच प्रकार की बुद्धियां ही पांचों पाण्डव हैं। युधिष्ठिर––धर्मबुद्धि! भीम––संकल्प बुद्धि ! अर्जुन––लक्ष्य निर्णायक बुद्धि! नकुल––ज्ञान बुद्धि ! सहदेव––भक्ति बुद्धि !

कौन है यह कर्ण ?

इस शरीर का पूर्व जन्म का ज्ञान ही कर्ण है ; जो शिशु के जन्मने के कुछ काल उप-रान्त ही लुप्त हो जाता है, कौरवी मायाओं द्वारा ! यूं कुन्ती का प्रथम पुत्र [पूर्व जन्म का ज्ञान] 'कर्ण' कौरवों का संग करने लगता है। इसीलिए तो मित्रों! आपके पास पूर्व जन्म का ज्ञान नहीं है। वह ज्ञान इन मायाओं ने हरण कर लिया है। तभी तो आज युद्ध में विप-रीत योद्धा बनकर खड़ा है। उस ज्ञान के न होने के कारण ही तो मनुष्य अधिकाधिक भटकाया जाता है। यदि पूर्व जन्म का ज्ञान हो जावे––तो उसे भटका सकेगा कौन ?

कुन्ती ने इन पाण्डवों को किस प्रकार ग्रहण किया ?

इस शरीर की धर्मबुद्धि युधिष्ठिर जो है उसको इस चेतना ने धर्माचार्यों, धर्म ग्रंथों द्वारा ग्रहण किया है। शरीर के अन्य अंगों की तरह स्वयं उत्पन्न नहीं किया है। बुद्धि कोई केशों की तरह उगती नहीं है। इसलिए धर्मबुद्धि युधिष्ठिर के दो पिता हो गये। प्रथम–धर्मग्रन्थ और धर्माचार्यों द्वारा ग्रहण कराये जाने के कारण––युधिष्ठिर धर्मराज का पुत्र है। दूसरे––इस शरीर पाण्डु में ग्रहण किये जाने के कारण––पाण्डु-पुत्र पाण्डव है।

इसी प्रकार संकल्प बुद्धि भीम एक ओर देवताओं के वर से उत्पन्न [संकलित] है तथा दूसरी ओर शरीर पाण्डु में धारति होने से पाण्डु-पुत्र पाण्डव हैं।

लक्ष्य निर्णायक बुद्धि अर्जुन भी ग्रहण कराये गये हैं। इन्द्रियों नें अर्जुन द्वारा हीं लक्ष्य निर्णायक बुद्धि को प्रकट किया है। इसलिए अर्जुन––एक ओर इन्द्रियों के अधिपति 'मन' इन्द्र के पुत्र हैं तो दूसरी ओर पाण्डु-पुत्र पाण्डव हैं।

ज्ञान बुद्धि नकुल और भक्ति बुद्धि सहदेव भी वाह्य दैविक शक्तियों द्वारा वरण, धारण को प्राप्त हुए हैं। इसीलिए एक ओर देवताओं के पुत्र हैं तथा दूसरी ओर पाण्डु-पुत्र पाण्डव हैं।

इनके नामों का रहस्य क्या है ? क्या इनके नाम भी इनके अनुरूप लिये गये हैं ?

"युधिष्ठिर" ! शब्द का अर्थ है जो युद्ध में स्थिर [अटल] रहे। युधिष्ठिर का युद्ध है महाभारत रूपी–– धर्म युद्ध ! तो अर्थ हुआ जो धर्म-युद्ध में स्थिर रहे––सो युधिष्ठिर

धर्मयुद्ध क्या है ?

यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव पर, त्याग के दिव्यास्त्रों द्वारा सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को त्याग––दस इन्द्रियों रूपी, दस फन वाले कालिया नाग को 'नथ'––अन्तर्मुखी हो; बुद्धि और आत्मा के द्वैत को योगमार्ग से अद्वैत कर––शरीर सामग्री को आत्मा हवन कुण्ड में यज्ञ कर––ब्रह्मर्षि के महान सनातन पद को प्राप्त होना। इस प्रकार युधिष्ठिर का अर्थ हुआ जो युद्ध रूपी––यज्ञाग्नि में स्थिर [अटल] रहे। यूं धर्मबुद्धि को युधिष्ठिर नाम दिया गया।

"संकल्प बुद्धि" भीम ?

आत्मा के द्वैत को योग मार्ग से अद्वैत कर--शरीर सामग्री को आत्मा हवन कुण्ड में यज्ञ कर ब्रह्मर्षि के महान सनातन पद को प्राप्त होगा। इस प्रकार युधिष्ठिर का अर्थ हुआ जो युद्ध रूपी--यज्ञाग्नि में स्थिर [अटल] रहे। यूं धर्मबुद्धि को युधिष्ठिर नाम दिया गया।

"संकल्प बुद्धि" भीम ?

भीम का अर्थ है भयंकर! पुनः जो 'अटल' है। यदि संकल्प बुद्धि भीम रूप न हो तो मायाओं का महासमर लड़ा जा सकेगा, कैसे ? इसलिए संकल्प बुद्धि को भीम नाम संज्ञा दी गई।

"लक्ष्य निर्णायक" अर्जुन ?

अर्जुन का शब्दार्थ है---'चमकीला', 'दिवाकर का तेज', 'सफ़ेद', 'इकलौता' और 'इन्द्र'! ये सारे शब्दार्थ हैं अर्जुन के।

लक्ष्य निर्णायक बुद्धि अर्जुन का लक्ष्य क्या है ? मायाओं का महासमर जीत--शरीर सामग्री को आत्मा हवनकुण्ड में यज्ञ कर-सशरीर तेज में परिवर्तित हो जाना तेज में परिवर्तित होना। "इकलौता" लक्ष्य है अर्जुन का! इससे स्पष्ट है कि लक्ष्य निर्णायक बुद्धि के लिए यही नाम सटीक था।अर्जुन का शब्दार्थ इन्द्र भी है। इन्द्रियों के अधिपति 'मन' को इन्द्र कहा गया है।

"ज्ञान बुद्धि" नकुल ?

नकुल का शब्दार्थ है 'न' 'कुल'। जिसका कोई कुल न हो कुल हीन! दूसरा अर्थ है नेवला। इसके अतिरिक्त यह शब्द अर्थहीन है।

ज्ञान को कुलहीन क्यों कहा ?

ज्ञान, कोई कुल नहीं देखता है। ज्ञानी का कोई कुल नहीं रह जाता है। नकुल ज्ञान को प्राप्त हो मनुष्य सन्यासी होकर, कुलरहित समाज का सदस्य बन जाता है। सन्यासी का कोई कुल नहीं होता है।

ज्ञान नेवला क्यों हैं ?

ज्ञान ही, तमरूप भ्रामक मायायों रूपी विषधर नागों को मार, तेजरूपी अमरत्व के मार्ग पर अर्जुन को ला सकता है। अज्ञान रूपी बिल में घुसकर भ्रमरूपी विषधरों को नष्ट

करने में और अमरत्व के मार्ग को इनके विष से निरापद करने में, ज्ञानरूपी नेवला नकुल ही सक्षम है।

"भक्ति बुद्धि" सहदेव ?

'सह' अर्थात 'संग'; देव अर्थात 'अमर'। 'अमर' का 'संग' करना ही सहदेव बनना है। चूंकि हम किसी का संग कर रहे हैं इसलिये यह द्वैत को सिद्ध करता है। इस प्रकार सहदेव भक्ति मार्ग का स्पष्ट प्रतीक हुआ। भक्ति मार्ग में भक्त, और भगवान का स्पष्ट द्वैत रहता है।

सारथि कृष्ण कौन हैं ?

इस शरीर 'पाण्डु' के सारथि 'कृष्ण' अमर आत्मा हैं। शरीर रथ है दसों इन्द्रियाँ ही इसके दस घोड़े हैं। पांच प्रकार की बुद्धियों, पाण्डवों, में लक्ष्य- निर्णायक अर्जुन, आत्मा कृष्ण को सर्वप्रिय है। क्यों ?

क्योंकि जीवन लक्ष्य का निर्धारण करना ; सही लक्ष्य को प्राप्त होना ; लक्ष्य प्राप्ति के लिये सब कुछ त्याग देना--परम है। इसलिये अर्जुन कृष्ण का प्रिय सखा है। यदि मनुष्य ने जीवन के लक्ष्य को नहीं जाना ; उसके तत्व के रहस्य को प्राप्त नहीं हो सका ; स्वयं के, एवं माया संसार के गूढ़ तत्व को न जान पाया--तो लक्ष्यहीन व्यक्ति, जायेगा कहाँ ?

कैसी विचित्रता है इस पावन श्रीमद्भगवद्गीता में। एक ओर अन्धा धृतराष्ट्र काल (समय) है और उसका सारथि है संजय 'वर्तमान'।

दूसरी ओर शरीर पाण्डु है जिसके पाँच पुत्र पाण्डव हैं और उनका सारथि है आत्मा कृष्ण।

दोनों सारथि अमर हैं, नित्य हैं, सनातन हैं। एक सारथि--दूसरे सारथि की कथा, अपने महारथी को बता रहा है--दूसरा सारथि अपने महारथी को दिव्य चक्षु देकर, तत्व दर्शन दे रहा है! "अरे यह रहस्य कैसा है ? कैसा युद्ध है ?

जितना जितना जानिये--उतना रोमांञ्चक ! अवाक, स्तब्ध, मूकश्रोता, हर्ष मिश्रित, भाव विह्वल सुनता जाय। कभी युद्ध की कथा सुनी ऐसी ?

युद्ध कैसा है ? क्यों इसे धर्म-युद्ध की संज्ञा दी गई ?

यह युद्ध है आत्माधारी शरीर का ! महासमर है मायाओं से ! आज उसे यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव पर, त्याग के धारदार अस्त्रों द्वारा, सम्पूर्ग शत्रु-मित्र-स्वजन नष्ट करने-- त्याग ने पड़ते हैं। सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को त्याग--सबसे विरक्त, त्यक्त हो; दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को 'नथ'--अन्तर्मुखी हो; बुद्धि और आत्मा के द्वैत को अद्वैत करना पड़ता है--योग मार्ग के द्वारा।

हिटलर, नेपोलियन और मसोलिनी जिस युद्ध की कल्पना मात्र से कांप उठते हैं-- वह युद्ध भयंकर लड़ता है--प्रत्येक वानप्रस्थी रूपी अर्जुन, यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर।

हिटलर, मुसोलिनी आदि महायोद्धा केवल शत्रु पक्ष के संहार का ही प्रयास करते हैं अपने परम प्यारे स्वजनों को मारने की कल्पना से ही थरथरा उठते हैं परन्तु--वानप्रस्थी को आज अपनी प्राण प्यारी पत्नी, सन्तान, स्वजन; मित्र, शत्रु सब मारने (त्यागने) हैं, इस यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर। उसे सबके, सब प्रकार के, चिन्तन से मुक्त हो--सदा के लिये वानप्रस्थी हो जाना है। उसे सम्पूर्ण को युद्ध में मारना है।

तीन तागों का गाण्डीव ! कितना शक्ति शाली ! कितना महान ! सारी कौरव सेना को नष्ट करने में समर्थ। अन्धे काल के पंजे तोड़कर अमरत्व दिलाने वाला ! कैसा रहस्यमय है यह गाण्डीव ! क्या रहस्य है इसका ?

यज्ञोपवीत के रहस्य को जानने के लिये-----आओ चलें, अतीत के अन्तरालों को लांघते--युगों पूर्व। रमणीय वन में गुरुकुल है। एक नन्हा सा बालक आया है ज्ञानार्जन हेतु। अब यहीं रहकर ज्ञान ग्रहण करेगा।

गुरु के मस्तिष्क में द्वन्द है। दो विपरीत भाव उठते हैं। प्रथम गुरू सोचते हैं कि इस बालक को ज्ञान अवश्य मिलना चाहिये----- ज्ञान तो पवित्र गंगा है। जिस प्रकार गंगा के जल के बिना व्यक्ति प्यासा ही मर जाता है-----उसी प्रकार अज्ञानी का जीवन- भी मृतक तुल्य है। दूसरा विचार उठता है कि ज्ञान तो गंगा है---जिस प्रकार गंगा की लहरों से अठखेलियां करने वाला तैराक, बीच गंगा में डूबकर अकाल मृत्यु को प्राप्त होता है-उसी प्रकार ज्ञान से दम्भ और दम्भ से कुतर्क और पाखण्ड को प्राप्त हो यह बालक नाना निम्न योनियों में भटक सकता है। किस प्रकार इसे ज्ञान दिया जाय कि जितना ज्ञानी हो -----उतना ही अन्तर्मुखी हो लक्ष्य की ओर निरन्तर बढ़ता जावे। ज्ञान के अमृत मे अमरत्व को प्राप्त हो।

इसी भावना से प्रेरित हो, गुरू उसका यज्ञोपवीत संस्कार कर, उसे इसका रहस्य बताते हैं। संक्षिप्त में-----तीन सूत्र इसके, तीन पुनीत यज्ञों के प्रतीक हैं। प्रथम सूत्र से गुरु उस बालक को बताते हैं कि किस प्रकार चिता की भस्मी यज्ञों द्वारा, सुन्दर वनस्पतियों में परिवर्तित हो सकी। कैसे, उसका शरीर नालियों के सड़ते पानी से सुन्दर वनस्पतियों में लाया गया-----ॐ रूपी आत्मा कृष्ण के द्वारा। दूसरे सूत्र से उसे बताते हैं कि किस प्रकार वही वनस्पति (गोभी-बैंगन आदि) भोजन के रूप में लिये जाने पर----शरीर में आत्मा द्वारा यज्ञ किये जाने पर------ रक्त- मांस में बदल; गर्भ में बालक का रूप ग्रहण कर सकी।

तीसरा सूत्र यज्ञोपवीत का तीसरे यज्ञ का प्रतीक है------जो आत्मा कृष्ण के सहयोग से करता है उसे। किस प्रकार------मैं बुद्धि पुजारी; इस शरीर रूपी सामग्री को ---आत्मा रूपी हवन कुण्ड में यज्ञकर---- सशरीर तेज में बदल; अहंब्रह्मास्मि का नाद करता-----ब्रह्मर्षि के महान अमर पद को प्राप्त हो-----पृथ्वी माया के गर्भ से बाहर निकल-----क्षीर सागर में स्वयं सृष्टा बन, प्रकट हो सकूँ!

चूंकि यह यज्ञोपवीत गाण्डीव है, इसलिये धनुषाकार पहनाता हूँ। मायाओं के महासमर के महारथी का अति शक्तिशाली शस्त्र! सूत के तागों का गाण्डीव!

कुरु क्षेत्र क्या है?

पौराणिक मान्यता के अनुसार पान्डवों के पूर्वज, बड़े ही प्रतापी एवं धर्मात्मा, महाराज कुरु ने उस स्थान पर कुरु-यज्ञ कराये थे-----इससे उस स्थान का नाम कुरु-क्षेत्र पड़ गया।

ऋग्वेद में कुरु-क्षेत्र का अर्थ विद्वानों ने लगाया है----"यज्ञ-कर्म कर्ता"।

श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कुरु-क्षेत्र का अर्थ भी यज्ञ-कर्म-कर्ता तथा कुरु यज्ञ का अर्थ शरीर सामग्री को आत्मा हवन कुण्ड में यज्ञ करना है। इस महान पुस्तक का तेरहवां सम्पूर्ण अध्याय इसी की पुष्टि है।"हे अर्जुन यह शरीर 'क्षेत्र है और मैं आत्मा 'क्षेत्रज्ञ' हूँ! "......मेरे को (अर्थात्; मैं कौन ?...आत्मा) ही सम्पूर्ण जगती का कारण जान मेरे (आत्मा) में ही सब कुछ यज्ञ कर गया योगी; मेरे [अमर आत्मा] को ही प्राप्त होता है तथा उसकी पीछे न आने वाली गति होती है।" .... इसलिये "तू सर्व धर्मों का

परित्याग कर एक एक मेरी [आत्मा की] शरण हो।"........इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि 'क्षेत्र' अर्थात् शरीर और 'कुरु' अर्थात् यज्ञ-कर्म ! 'कुरु क्षेत्र' अर्थात् "शरीर यज्ञ के लिये" !

कैसे विचित्र योद्धा ; कितना विचित्र युद्ध ; और कैसा रहस्यमय युद्ध क्षेत्र ! अस्त्र-शस्त्र भी अति विस्मयकारी ! यही, मूल एवं तत्त्वरूप, दिव्य-दर्शन है ; श्रीमद्भगवद्-गीता का !

परन्तु इस तत्त्व दर्शन के साथ अनेकों प्रश्न भी जुड़े हुये हैं। आज तक के सारे महात्माओं एवं विद्वानों ने, इसे एक धरती के लिये किये गये युद्ध के रूप में ही देखा है। वे अन्तर्द्वन्द एवं अध्यात्मिक युद्ध न मानकर ; इसे विशाल जनसमूहों द्वारा लड़ा गया ऐतिहासिक युद्ध मानते हैं। दो सर्वथा विपरीत मत हैं। एक मत निर्द्वन्द युगों पूर्व से चल रहा है। दूसरा विस्मृत सनातन मत आज आपके सम्मुख है। आज आपको निष्पक्ष रूप से निर्णय देना है कि श्रीमद्भगवद्गीता इतिहास की पुस्तक है अथवा सदा वर्तमान में स्थित एक अध्यात्मिक---निरन्तर युद्ध ! जिसे लड़ता है प्रत्येक वानप्रस्थी !

क्या गीता इतिहास की पुस्तक है ?

इतिहास का शब्दार्थ है [इतिह पारम्पर्योपदेश आस्ते अस्मिन् इति विग्रहे इतिह/ आस्+घञ्] अर्थात् विस्मृत युग की सुनी-सुनाई बातें। जिनके कथानक एवं पात्र, अतीत की घटना मात्र बन गये हैं। जिनका वर्तमान से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इतिहास का लक्ष्यार्थ है 'इति+ ह्रास'। अर्थात् जिनकी 'इति' [अन्त] हो चुकी है तथा जो ह्रास [क्षीणता] को प्राप्त हो चुके हैं। क्या श्रीमद्भगवद्गीता के पात्र कृष्ण, जन्मने और मरने वाले अन्त और क्षीणता को प्राप्त होने वाले मनुष्य हैं ? क्या महाभारत का युद्ध इतिहास की घटना है ? क्या श्रीकृष्ण भगवान न होकर इतिहास के नायक हैं ?

यदि ऐसा है, तब तो अनगिनत शंकायें प्रश्नों के रूप में प्रकट होने लगेंगी ; जिनका उत्तर आधुनिक इतिहासकार, चिन्तक और विचारक कदापि न दे पावेंगे ! प्रश्न हैं :-

१—यदि कृष्ण इतिहास के नायक हैं [अध्यात्म के नहीं] ; तथा श्रीमद्भगवद्गीता इतिहास की पुस्तक है---तो क्यों उन्हें अमर भगवान जानते हैं ? क्यों उनके मन्दिर बना, उन्हें पूजते है ? अन्य इतिहासिक नायकों ; समुद्रगुप्त, पृथ्वीराज, विक्रमादित्य आदि के मन्दिर बना ; क्यों नहीं उनकी पूजा करते ?

२–यदि श्रीमद्भगवद्गीता इतिहास की पुस्तक है तथा बीच महाभारत युद्ध में लिखी गई है–––तो यह पुस्तक वेद की ऋचाओं में होनी चाहिये। पाणिनी तो महाभारत के हजारों वर्ष उपरान्त हुये। पाणिनी के द्वारा बनाये व्याकरण की संस्कृत में यह पुस्तक कैसे लिखी गई ? क्या किसी भाषा के जन्म के हजारों वर्ष पूर्व–––उसी भाषा में कोई पुस्तक लिखी जा सकती है ?

३–यदि धृतराष्ट्र जैसा महान राजा हो और संजय जैसा उसका अति विद्वान मन्त्री हो; फिर वह राजा अपने पुत्रों का नाम भद्दी गालियों पर रखे दुर्योधन, दुःशासन.........। क्या नामों का अकाल पड़ गया था ? क्या अपशब्द ही नाम के लिये बाकी बचे थे ? पाण्डवों में भी 'नकुल' [कुलहीन] नाम धराया जाना स्वयं एक अत्यधिक अपमानजनक गाली है। इतनी गन्दी गाली राजा पाण्डु, क्यों नाम के रूप में अपने पुत्रों को देना चाहेंगे ?

४–क्या इतना विशाल युद्ध कुरुक्षेत्र में लड़ा जा सकता है ? दस हाथी भी तो नहीं लड़ाये जा सकते ! करोड़ों की सेनायें कहां लड़ीं होंगी ?

५–युद्ध हो धनुष-बाण, गदा-भाले का; और उसका उपदेश न कर; बातें करें तत्व दर्शन कीं ; योग मार्ग की–––सशरीर तेज में बदल कर अमरत्व को प्राप्त होने की। **दोनों** मार्ग एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं। एक में बहिर्मुखी हो, इन्द्रियों के सहयोग से वाह्य युद्ध लड़ना है। दूसरे में अन्तर्मुखी हो, वाह्य चिन्तन से मुक्त हो, इन्द्रियों से विरक्त हो; अन्तर से भी सारे चिन्तन को हटा–––बुद्धि को आत्मा में लय कर ; आत्मसंगी बना––– सशरीर तेज में बदल कर अमरत्व को प्राप्त होना है। महाराज कृष्ण उल्टी शिक्षा क्यों दे रहे हैं ?

६–युद्ध लड़ें भयंकर ! रक्त की नदियां बहें ! जनजीवन का भयंकर नाश हो। उसका नाम धरें–––धर्म-युद्ध ? युद्ध हुआ गद्दियों के लिये सत्ता के लिये, राज्य और धरती के लिये। फिर जीतते ही पांचों पाण्डव गद्दियों को छोड़कर भाग खड़े हुये और दाह-संस्कार की क्रियाओं से विहीन ; राजकीय सम्मान से विहीन अकाल मृत्यु को प्राप्त हुये। ऐसा क्यों ? क्या वे पागल हो गये थे ?

यदि 'रिटायरमेन्ट ऐज, आ ही गई थी तो किसी पहाड़ी झील के किनारे बंगले बनाकर रहते। सब्जियां उगाते और फूलों की क्यारियां सजाते। बर्फ में दबकर मरने का आत्म-हन्तक पागलपन क्यों सूझा ?

ऐसे अनेकों प्रश्न हैं जिनका उत्तर इतिहास वाले न दे पायेंगे । उसका कारण भी है । सत्य सदासत्य रहेगा ; भ्रान्ति सदा भ्रान्ति ही रहेगी । भ्रम को चाहे कितना भी क्यों न तर्क के द्वारा सजाया जाये ; भ्रम ही रहेगा । अध्यात्म की पुस्तक में इतिहास ढूंढ़ना---क्या भ्रम नहीं है ?

अध्यात्म का नायक अमर, नित्य, सनातन आत्मा होता है ; जो न मरता है और न ही जन्मता है । वह न 'इति' और न 'ह्रास' को ही प्राप्त होता है । इसलिये; जो सदा वर्तमान में विचरण करता है, जो निरन्तर है, उसका इतिहास खोजना स्वयं में एक बहुत बड़ी मूर्खता है । अध्यात्म की पुस्तक तो आत्मा की ही भांति 'वर्तमान' में सदैव रहती है; तो उसमें इतिहास कहां मिलेगा ?

अध्यात्म में इतिहास ढूंढ़ने की भ्रमात्मक प्रवृत्ति उत्पन्न कैसे हुई ?

अतीत के गहन अन्तराल में किसी अन्तर्ब्रह्माण्डीय भयावह दुर्घटना (सम्भवतः महाभारत ?) के कारण विनष्ट हो गई मानव जाति---युगों के अन्तरालों को लांघती---अपने टूटे अंगों को जोड़ती, लड़खड़ाती कांपती--समय के साथ पुनः जुड़कर--जब समृद्धि को प्राप्त हुई---तो सैकड़ों पीढ़ियों का अन्तराल अन्धकारपूर्ण हो चुका था । एक रहस्य बनकर रह गया था । गुत्थी जो सुलझ न सकती थी ।

मानव लिप्सा माने कैसे ? मैं बीते 'कल' में क्या था ? मेरे पूर्वज कौन थे ? कैसे थे ? कैसे रहते थे ? क्या खाते-पहनते थे ? कैसा युग था वह ? अनेकों प्रश्न चिन्ह थे ! उत्तर नदारत ! इतिहास लुप्त हो चुका था ! इतिहास नष्ट हो गया था । उपलब्ध थीं---मात्र अध्यात्म की पुस्तकें जो कि किम्बदन्तियों के सहारे युगों के अन्तरालों को पार करती चली आ रही थीं । 'योग-मार्ग' का सशक्त देवयान उन्हें युग से युग बिना नष्ट किये ढोता चल रहा था । अध्यात्म की अमरता, योग से जीवित रही और अध्यात्म, नामानुकूल, सदा वर्तमान के साथ चलता रहा । इतिहास, विज्ञान, समाजशास्त्र अन्य सारे ज्ञान लुप्त हुये । पुनः उत्पन्न हुये, और समय की हर ठोकर के साथ बदलते चले गये । जो न बदला----वह सनातन अध्यात्म था ।

हलवाई सायंकाल भट्ठी से आग निकाल कर भट्ठी के सामने एकत्र कर देता है । धीरे-धीरे अंगारों पर राख की तहें जमने लगती हैं । फिसलती रात के साथ राख की तहें गहरी होती चली जाती हैं । अज्ञानी उसे राख का ढेर ही जानता है । वह मूर्ख क्या जाने

कि समय की जमी इस राख के गर्भ में---छिपे हैं अंगार दहकते हुए। हलवाई प्रातः काल इन्हीं अंगारों से पुनः भट्ठी जला लेगा। हर सुबह उसकी भट्ठी यूं ही जलती रहेगी। ठीक उसी तरह सनातन अध्यात्म का हलवाई समय की गहन रात्रि के अन्तराल के उपरान्त फूंक मार कर राख उड़ा देता है। चकाचौंध से अध्यात्म के दहकते अंगारों से ; एक बार फिर, सम्पूर्ण मानवजाति स्तब्ध अवाक् रह जाती है ! अरे ! जिसे इतिहास की राख समझे थे--उसमें तो दहकते अंगार अध्यात्म के थे !

अध्यात्मिक पुस्तकों में, अध्यात्मिक गूढ़ तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये, रूपकों एवं कथाओं का सहारा लिया गया। अतीत को जानने की उत्कट इच्छाओं के कारण मनुष्य जाति अपने अतीत को इन्ही रूपकों और कथाओं में ढूंढ़ने लगी। यूं अध्यात्म में इतिहास खोजा जाने लगा।

मान लीजिये, कल फिर हो एक अति विनाशकारी महायुद्ध ! अणु, परमाणु और पशुपतास्त्र [Cosmic warheads] खुलकर चलें। भयंकर विनाश हो जावे। इक्का दुक्का जंगली परिवार, पीढ़ियों के अन्तराल लांघते, युगों घिसटते, युगों चलते--कबीलों में एकत्र हों --कबीले राज्य बनें। पुनः मनुष्य की अतीत जानने की लिप्सा उसे झंझोड़े। इतिहास नष्ट हो चुका हो। केवल एक पुस्तक इस जाति को मिल जाये; जिस पर लिखा हो 'दवाइयों की पुस्तक'। इस पुस्तक के अतिरिक्त इस सम्पूर्ण जाति के पास कुछ नहीं है। अतीत जानने की उत्कट अभिलाषा बेचैन किये है।

तभी 'मूड' में आकर विद्वान समाज खोजने लगे इतिहास बीते युग का---दवाई की पुस्तक में ! कैसा होगा वह इतिहास ?

'ऐस्प्रो' और 'ऐनासिन' नाम के दो अति भव्य नगर थे। 'विटामिन-बी-कम्पलेक्स' नामक बड़ा सुरम्य, सुन्दर घना जंगल था। 'फास्फोमिन', वाटरबरी कम्पाउन्ड', 'कफ-मिक्सचर' नामक कल-कल करती नदियां बहती थीं---

ठीक कुछ ऐसा ही प्रयास अतीत जानने के लिये भी किया गया है। अध्यात्म की पुस्तक में इतिहास ढूंढ़ना, स्वयं में भारी मूर्खतापूर्ण कदम है।

क्या महाभारत-युद्ध ऐतिहासिक घटना नहीं है ?

निःसंदेह ऐसी भयावह घटना हुई। परन्तु वह युद्ध अथवा दैबी विपत्ति किस प्रकार की थी ; उसका कारण और विस्तार क्या था ; कब और क्यों हुई ---बता

सकना सम्भव नहीं है। उसका इतिहास लुप्त हो चुका है। किम्बदन्तियां अवशेष और स्मृति-चिन्ह एक निश्चित संकेत देते हैं। ऐसा भयंकर युद्ध हुआ है!!

परन्तु उस युद्ध का वर्णन अध्यात्म की पुस्तकों में ढूंढ़ना---एक नितान्त मूर्खतापूर्ण कदम है। अधिक स्पष्ट करें--अध्यात्म की पुस्तक के पात्र अध्यात्मिक हैं तथा यहां पर यह ऐतिहासिक घटना (?) मात्र कथारूपक के लिये ही ली गई है। वेद को स्पष्ट करने लिये सम्भव है किसी एतिहासिक घटना को उदाहरणार्थ रूपक के रूप में ग्रहण किया गया हो ; तथा पात्रों को, अध्यात्मिक तत्व को स्पष्टीकरण हेतु, नामों तथा कथानक में भी आवश्यकतानुसार तोड़ा-मरोड़ा गया हो। तब न तो नाम ऐतिहासिक हैं और न घटनाक्रम ही। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि पुस्तक भले ही अतीत की किसी घटना की ओर संकेत दे, परन्तु उस घटना का सही ऐतिहासिक रूप न तो स्पष्ट करती है ; न इतिहास को प्रतिनिधित्व ही देती है। श्रीमद्भगवद्गीता के पात्रों का चयन आत्मस्पष्टार्थ, आत्म-ज्ञानार्थ ; वेद के सरल स्पष्टीकरण देने के लिये हैं। जो इसके पात्रों को जन्मने और मरने वाला मानता है, वह निश्चय ही निम्न कोटि का मूर्ख है।

उपमाओं, कथाओं एवं रूपकों द्वारा तत्व को स्पष्ट करने की आदि कालीन एक प्रचलित परम्परा रही है। गीता की समकालीन पुस्तकों में तथा उपरान्त युगों तक यही शैली अपनायी जाती रही है। यदि हम पुराणों, उपनिषदों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों का अवलोकन करें तो भी स्पष्ट हो जाता है कि यह युद्ध की पृष्ठभूमि दिखाना एक प्रचलित शैली है। युद्ध महत्वहीन है। मूल तत्व दर्शन है।

जैसे पुराणों में भी--चन्द्रमा एक राजा है जिसकी सत्ताइस पत्नियां हैं जिनके नाम अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु पुष्य······आदि हैं। यहां भी चन्द्रमा ग्रह को पुरुष रूप में दिखाकर नक्षत्रों को उसकी पत्नियां बना दिया गया है मजेदार बात यह है कि चन्द्रमा से प्रत्येक नक्षत्र करोड़ों गुणा बड़ा है। जरा अन्दाजा लगाइये उस नन्हें पति का जिसकी करोड़ों गुणा बड़ी पत्नियां हैं ! यदि कोई महात्मा उसका और उसकी पत्नियों का अलग-अलग सारे भारत में मन्दिर बनवा देता तो सोचिये कि इतिहास और कितना रोचक हो जाता। सत्ताइस छोटे राज्य होते और चन्द्रमा एक सम्राट होता। समय के साथ नये-नये घटनाक्रम जुड़ते चले जाते। धीरे-धीरे पत्नियों के माता-पिता, जन्म-समय, पाणिग्रहण, स्वयंवर में नाटकीय घटनाओं का होना, युद्ध---और न जाने क्या-क्या ! ये सब इतिहास के अंग बनते चले जाते।

तब महाभारत-युद्ध क्या है ?

श्रीमद्भगवद्गीता के अट्ठारह अध्याय ही अट्ठारह दिन हैं--महाभारत-युद्ध के। यह युद्ध अनेक व्यक्तियों द्वारा, अनेक व्यक्तियों से लड़ा जाने वाला युद्ध कदापि नहीं है। वरन् यह युद्ध है, एक व्यक्ति द्वारा लड़ा जाने वाला ; अनेक मायारूप लिप्साओं, वासनाओं, मोह, लोभ, वात्सल्य आदि से। यह युद्ध लड़ा जाता है कुरु-क्षेत्र की यज्ञभूमि पर, यज्ञ-कुण्ड के सम्मुख हो, यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर, संकल्पों एवं प्रतिज्ञाओं के द्वारा।

जीवन की सांझ में,कुरु-क्षेत्र में आया है सांसारिक व्यक्ति। वह अब वानप्रस्थी होना चाहता है संसार को उसने धर्मपूर्वक भोगा है और अब निवृत्त हो इस जग से, योग मार्ग पर जाना चाहता है जीवन की मृत्युरूपी गहन रात्रि से पूर्व ही ; वह स्वयं को जानकर, स्वयं को पा लेना चाहता है। संसार में भी वह श्रीमद्भगवद्गीता का निष्काम कर्म योगी बन कर जिया था। अब सर्वस्व उसी आत्मारूपी यज्ञ-कुण्ड'कृष्ण' में अर्पित कर उन्हीं महाप्रभु के लोक को प्राप्त हो--जन्म मरण के चक्र से निकल भागना चाहता है।

शुक्ल कृष्णे गतीह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ (गीता ८/२६)

गृहस्थ ने गृह त्याग दिया है। कुरुक्षेत्र की पावन यज्ञभूमि का स्पर्श पाकर उसका रोम-रोम झूम उठा है। बारम्बार उसके हृदय में उपरोक्त श्लोक हिलोरें उत्पन्न कर देता है। इस श्लोक के परम रहस्य को जानता है वह ! उस मार्ग को पहचानता है वह ! उसके गूढ़ तत्त्व रहस्य को पा लिया है उसने !

"शुक्ल और कृष्ण दो प्रकार की इस जगत की गतियां हैं। एक गति को प्राप्त हुआ योगी, कभी पीछे लौटकर नहीं आता है। दूसरी गति से गये व्यक्ति बारम्बार जन्म-मरण रूपी गतियों को प्राप्त होते हैं।"

उसका रोम-रोम पुलकायमान है। इस माया संसार में एक गीता का 'गृहस्थ' बन जिया है वह ! आज सबसे मनसा-वाचा-कर्मणा मुक्त हो कुरुक्षेत्र में आ गया है। उसी गति को प्राप्त होना चाहता है जिससे उसे पीछे न लौटना पड़े।

सबसे पहले 'सहदेव' बना था वह। बचपन में भक्ति-मार्ग के द्वारा ही वह अपने अन्तरात्मा कृष्ण के संग,'सह'-'देव' बन 'सह'-'योग' (सहयोग)कर सका था! इसी में युवा हुआ

और प्रौढ़ता की ओर भी बढ़ता चला गया। 'सहदेव' बन, 'सहयोग' से आत्मा के तथा धार्मिक पुस्तकों एवं धर्माचार्यों के, 'नकुल' बनता चला गया था। 'नकुल' रूपी ज्ञानबुद्धि के जागृत होते ही मेरा-तेरा, अपना पराया, समाज-कुल-लोक आदि से विरक्त होता चला गया था ! इनकी निस्सारता और थोथापन उसे स्पष्ट दिखने लगा था। और इस सम्पूर्ण मायाजाल से उचाट हो वह जीवन के सही लक्ष्य को प्राप्त होने को आतुर हो उठा था। जीवन के मात्र लक्ष्य के रहस्य को जानना तथा प्राप्त होना चाहता था वह ! एक ही खोज की उसकी !

तभी 'अर्जुन' जाग उठा उसका। सहदेव से नकुल और नकुल से अब 'अर्जुन' भी उसके शरीर में प्रकट हो गया था। भक्ति-बुद्धि से ज्ञान बुद्धि प्रकट हुई और ज्ञान-बुद्धि से प्रकट हुई लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि। जाना जब लक्ष्य को जीवन के, स्तब्ध रह गया था। फिर हर्ष और उन्माद से झूम उठा। वह सहदेव भी था, नकुल भी था, अर्जुन भी था। तभी लक्ष्य का ज्ञान कर उसके तन में जौहर की ज्वालायें धधक उठीं ! रोम-रोम, अंग-अंग सामग्री बन आत्मारूपी यज्ञ-कुण्ड में यज्ञ होने के लिए बेचैन हो उठे। सहस्त्रों चिताओं से कहीं तीव्र अग्नि आत्मकुण्ड की, उसके जीवन का लक्ष्य बनी, तो भड़ककर जाग उठा 'भीम' ! संकल्प बुद्धि भीम ने हठ जो पकड़ा, तो सर्वस्व त्याग—आज आ गया है कुरु-क्षेत्र में जगाने धर्मबुद्धि 'युधिष्ठिर' को ! देखना लड़ेगा युद्धि भयंकर ! कुरुक्षेत्र में गुरु-जन, सन्त-महन्तों को प्रणाम कर, उनसे आशीष-वचन एवं योग का ज्ञान लेता है ; तो जाग उठता है युद्धिष्ठिर ! यज्ञ की अग्नि में प्रवेश कर स्थिर हो जाने की इच्छा बलवती हो उठती है। आत्मकुण्ड की यज्ञाग्नि में स्थिर होना ही उसका मात्र लक्ष्य है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही वह सम्पूर्ण मायायों से युद्ध करेगा। माया महासमररूपी महाभारत युद्ध कैसा है ? उस वानप्रस्थी के मन में क्या शंकायें उत्पन्न हो सकती हैं ? उसका मार्ग क्या है ? क्या बाधायें हैं ? लक्ष्य क्या है ? लक्ष्य-रूप कैसा है ? लक्ष्य की प्राप्ति कैसे होगी ? भटक जाने पर क्या होगा ? आदि समस्याओं का समाधान है—श्रीमद्-भगवद्गीता !

जीवन भर इस पावन पुस्तक को गुरू जानकर, उसमें दिखाये मार्ग पर, यज्ञोपवीत-रूपी गाण्डीवधारी योद्धा की तरह जिया था। आज युद्ध की अन्तिम रिहर्सल कर, अट्ठारह दिन का महाभारत लड़ेगा। योद्धा है वह मायाओं के महासमर महाभारत का !

धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

शब्दार्थ है–धृतराष्ट्र बोला–'हे संजय ! धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र में द्वन्द्व की इच्छा से इकट्ठे हुए मेरे एवं पाण्डु-पुत्रों ने क्या किया ।'

दिव्यदृष्टि तत्व दर्शन है :–

अन्धा समयरूपी धृतराष्ट्र जिसने सम्पूर्ण जन-जीवन, चेतन-अचेतन को अपने कालरूप काले पंजों में जकड़ा हुआ है ; तथा जिसकी पत्नी, आखों पर पट्टी बांधनेवाली गान्धारीरूपी महामाया ने सबको मोहित, भ्रमित एवं अन्तर से अन्धा किया हुआ है ; तथा जो सौ प्रकार की लिप्साओं और असंख्य प्रकार की उपलिप्साओंरूपी धार्तराष्ट्रों (वे हंस जिनके पंजे तथा चोंच काले हैं ; दूसरा अर्थ कौरव) के द्वारा सम्पूर्ण को नुचवा रहा है ; भटकाकर पुनः जन्म-मरण की गतियों में ही, समय की परिधि में निरन्तर नचा रहा है । सो धृतराष्ट्र (धृत अर्थात् धारण करना, जकड़ना ; राष्ट्र––सम्पूर्ण जड़-जीवन) पूछता है अपने सारथि संजय से । संजय अर्थात्–जिसने जीवन को जीत रखा है, जो नित्य है, सनातन है, सदा वर्तमान रहा है ; सदा वर्तमान रहेगा । संजय कौन हो सकता है? समय 'काल' का अमर सारथि कौन है ? "वर्तमान"! !

जी हां ! इसी वर्तमान द्वारा ही तो समय का रथ चलता है । भविष्य, वर्तमान से होकर ही अतीत के अन्तराल में खोता चला जाता है । समय का रथ तीव्र गति से निर्बाध दौड़ता चला जाता है । चलाता है इस रथ को वर्तमान ! भविष्य का प्रत्येक क्षण; वर्तमान होता हुआ––––अतीत के गहन अन्तराल में लुप्त होता चला जाता है । अन्धा महाराज 'काल' न किसी के लिये रुका है और न ही रुकता है। उसकी दौड़ अन्धी है । वर्तमान ही उसकी आखें हैं । राजा हो या रंक, पुजारी हो या व्यभिचारी, मन्दिर हो या मदिरालय ––––सबका समय एक ही गति से निर्बाध घटाता चलता है । न कोई रोक सका इसे; और न ही यह रुका किसी के लिये ।

पूछ रहा है 'समय' 'वर्तमान' से––– कि हे 'वर्तमान' ! अमर संजय ! ! जरा देखकर बताओ कि धर्म-क्षेत्र (क्षेत्र अर्थात् शरीर । व्याख्या का विस्तार सम्पूर्ण तेरहवां अध्याय––– श्रीमद्भगवद्गीता) अर्थात् शरीर के मात्र धर्म से प्रेरित होकर, कुरु-यज्ञ के लिये ; अर्थात्

शरीर सामग्री को आत्मकुण्ड 'कृष्ण' में यज्ञ करने के लिये--मुझसे द्वन्द की इच्छा वाले जो एकत्र हुये हैं इस कुरु-क्षेत्र में; उन्होंने मेरे पुत्रों के संग किस प्रकार और कैसा युद्ध किया ? तथा कौन हैं वे लोग ? "पाण्डवाश्चैव"--'पाण्डवः'+च+एव'। अर्थात् पाण्डु के पुत्र' और 'एवं'। स्पष्टार्थ पाण्डु तथा पाण्डु के पुत्र एवं उनके साथी।

पाण्डु, पाण्डु-पुत्र एवं उनके साथी कौन हैं ?

पांच तत्व से बना शरीर ही पाण्डु है--जिसकी पांच प्रकार की बुद्धियां पांच पाण्डव हैं। धर्म बुद्धि युद्धिष्ठिर है; संकल्प बुद्धि भीम है; लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि अर्जुन है; ज्ञान बुद्धि नकुल है तथा भक्ति बुद्धि सहदेव है। यज्ञोपवीत जिसका गाण्डीव है। शरीर जिसका 'रथ' है। आत्मा कृष्ण जिसके सारथि हैं

तब ऐसे योद्धा से 'काल' को क्या चिन्ता है ?

'काल' के अतिरिक्त और चिन्ता होगी भी किसको। यह शरीरधारी आज उसके सारे लिप्सारूप कौरव पुत्रों को मार---गान्धारी की पट्टी तोड़--अन्तर के कृष्ण के संग अद्वैत कर--कुरु-यज्ञ कर--काल के पंजों को तोड़---नित्य सनातन हो जावेगा। तब काल को उसका स्वामिभक्त कुत्ता बनना पड़ेगा। इसलिये धृतराष्ट्र जानने को उत्सुक है कि उस पांच पाण्डव रूपी शरीरधारी ने तथा सम्पूर्ण मायाओं ने क्या किया ? उसकी उत्सुकता सर्वथा उचित है।

संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

कालरूपी धृतराष्ट्र के ऐसा पूछने पर वर्तमानरूपी सारथि संजय बोला---उस समय राजा दुर्योधन ने व्यूह रचना युक्त पाण्डवों की सेना को देखकर द्रोणाचार्य के पास जाकर यह वचन कहा।,

यहां दुर्योधन कौरवों के अग्रज भ्राता हैं। ये नाम दुर्योधन, दुःशासन आदि भद्दी गालियां हैं। स्पष्ट है कोई भी राजा अपने पुत्रों का नाम गालियों पर नहीं रखेगा। इसलिये दुर्योधन वस्तुतः मायाओं में सबसे बड़ी माया है, जो घृणित लिप्साओं में बलपूर्वक फंसा देता है। धार्तराष्ट्रों में मुखिया है।

हंस सा सुन्दर दिखने वाला और काली चोंच और काले पंजों वाला यह आततायी, भयंकर मायावी है। यह चौकन्ना है। देखें आत्मा कृष्ण की कृपा से कैसे निकल भागता है, पांच प्रत्यक्ष बुद्धियों वाला यह शरीरधारी !

आचार्य द्रोण कौन हैं ? यूं तो वे कौरवों और पाण्डवों के गुरु हैं। उन्हें विद्यायें सिखाई हैं। शिष्यों में भी उन्हें लक्ष्य-निर्णायक अर्जुन अति प्रिय है। परन्तु आज वे अर्जुन के भी शत्रु बन गये हैं। कौरव सेना के पक्ष में खड़े हैं।

इनका नाम द्रोण क्यों पड़ा ? द्रोण का शब्दार्थ क्या है ? द्रोण के शब्दार्थ हैं--- पानी से भरा एक विशिष्ट प्रकार का बादल; जंगली मुरदाखोर कौवा, बिच्छू, माप और एक वृक्ष का नाम।

कितनी विचित्र बात है कि ब्राह्मण कुल-श्रेष्ठ धनुर्विद्या तथा अन्य विद्याओं में पारंगत, तपस्वियों में श्रेष्ठ व्यक्ति का नाम अपशब्दों पर हो। इससे भी स्पष्ट है कि पात्रों का नाम एवं घटनाक्रम अध्यात्मिक दृष्टिकोण से बदले गये हैं। सम्भव है कि ऐतिहासिक युद्ध में कोई ऐसा पात्र रहा हो---तो निश्चय ही उसका यह नाम नहीं रहा होगा। यहां सुन्दर से दिखने वाले काली चोंच और काले पंजों वाले मांसभक्षी पक्षियों का साथी होने के कारण--- आचार्य का नाम मुरदाखोर जंगली काला कौवा अर्थात् द्रोण रख दिया गया; जिसका दूसरा शब्दार्थ बिच्छू है। सत्य है उपलिप्सायें बिच्छू की तरह पीछे से डंक मार जीवन को विषाक्त कर देती हैं।

यहां एक बात और भी बहुत रोचक है। आचार्य द्रोण सारे युद्ध में, अकेले योद्धा थे जो काले वस्त्र पहनकर युद्धभूमि में आते थे। काले कौवे का रूप भरने की उन्हें क्या आवश्यकता थी ? यह विचारणीय है।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपद पुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी की हुई पाण्डुपुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये।

इस श्लोक में पाण्डव पक्ष के योद्धाओं के नाम आये हैं। आइये इनके नामों का भी शब्दार्थ करके देखें। द्रुपद का अर्थ है तीव्र पद। तीव्र पद है वायु का तूफान। इस तीव्र पद (द्रुपद) का पुत्र है धृष्टद्युम्न अर्थात् दुस्साहसी तेज; आकाशीय बिजली, तड़ित!

इन नामों से लगता है कि पाण्डव पक्ष के साथ पक्षपात किया गया है। एक ओर कौरव, पक्ष में काले, अन्धकार और विषाक्त नाम हैं तो दूसरी ओर तेज और प्रकाश पर नाम रखे गये हैं।

द्रोण का शब्दार्थ बादल भी है। अर्थात् उस जल के बादल के द्वारा जिस प्रकार द्रुपद वायु घुटकर रह जाता है, स्थिर हो जाता है। तब द्रुपद वायु की तपस्या से प्रकट होता है, उसका पुत्र धृष्टद्युम्न, तड़ित्! आकाशीय बिजली चमककर उस बादल के टुकड़े-टुकड़े कर वर्षा के रूप में धरती पर छितराकर अपने पिता द्रुपद को स्वतन्त्र कर––उसका बदला लेता है उस द्रोण बादल से।

ठीक उसी प्रकार इस युद्ध में इस शरीरधारी की तपस्या का तेज जो तड़ित् की भांति है, इस कालिमा और विषरूपी द्रोण को इस माया महासमर में छिन्न-भिन्न कर देगा। शरीरधारी मायायों के भ्रमजाल को नष्ट कर, तेज मार्ग पर अग्रसर हो, स्वर्गारोहण करेगा।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इसमें बड़े धनुषोंवाले, युद्ध में भीम और अर्जुन के समान बहुत से शूरवीर हैं। सात्यकि और विराट तथा महारथी द्रुपद।

विराट एक महाराजा का नाम है; महाभारत के चौथे पर्व का नाम है तथा अत्यधिक चमकने वाले घटिया हीरे को भी विराट कहते हैं। अर्थात् यहां नाम तेज पर ही रखा गया है। युयुधानः के दो अर्थ हैं एक घोड़ों का आधार और दूसरा सात्यकि! इस रथ के घोड़े इन्द्रियां हैं। इन्द्रियों का आधार अब सत्य बन गया है। सात्यकि का विग्रह (सत्यक+ इञ्) है; जो सत्य पर स्थिर रहे अथवा सत्य ही जिसका आधार हो। इस प्रकार इन्द्रियों का आधार सत्य है; उस शरीरधारी का। अब सत्य के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखाई देता है। द्रुपद अर्थात् तीव्र पद, आँधी तूफान की तरह भ्रम और मायायों को उड़ा देनेवाला। पांच तत्त्व से बना यह शरीर पाण्डु और उसकी पांच प्रकार की प्रकट बुद्धियां पांच पाण्डव और तड़ित् सा तेजस्वी है वह। यह श्लोक भूमिका मात्र है।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥

और धृष्तकेतु, चेकितान तथा बलवान काशिराज, पुरूजित् कुन्तिभोज और नर-श्रेष्ठ शैब्य ।

धृष्ट का अर्थ दुस्साहसी तथा केतु का अर्थ उज्जवल प्रकाश किरण होता है । एक योद्धा का नाम भी है । चेकितान शब्द का अर्थ है अत्यन्त ज्ञानी । अत्यन्त ज्ञानी का सम्मान मात्र ब्रह्मा को है । काशिराज नाम शंकर के लिए तथा पुरुजित् नाम विष्णु के लिए आता है । शैब्य एक प्रकार के सधे हुऐ दुस्साहसी योद्धाओं की जाति है तथा शैब्य कृष्ण के घोड़ों में से एक का नाम है ।

वह शरीरधारी कैसा दिख रहा है कि उसके शरीर पर धृष्टकेतु अर्थात् दुस्साहसपूर्ण उज्जवल प्रकाश किरणें प्रकट हो रही हैं । वह, आज चेकितान अर्थात् ब्रह्मा सा ज्ञानी है तथा बलवान काशिराज अर्थात् शंकर सा प्रलयंकर तेजोमय सूर्य सदृश्य है तथा पुरुजित् अर्थात देवलोक के जीतने वाले विष्णु के सदृश्य दिख रहा है । चेतना से परिपूर्ण है वह और शैब्य सा योद्धा है वह ! सधी हुई इन्द्रियां हैं उसकी ! इसका अर्थ है कि आज ये सारे पावन गुण और उपलब्धियां इस महासमर में इसके साथी बन, मायायों से युद्ध कर उन्हें छिन्न-भिन्न करेंगे ।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

और पराक्रमी युधामन्यु तथा बलवान उत्तमौजा तथा अभिमन्यु और द्रौपदी के पांचों पुत्र ये सब ही महारथी हैं ।

युधामन्यु का शब्दार्थ है प्रलयंकर योद्धा तथा यज्ञाग्नि । उत्तमौजा अर्थात् उत्तम प्रकार का ओज अथवा तेज । अभिमन्यु शब्द का अर्थ है 'प्रलयंकर यज्ञाग्नि की ओर जाता हुआ' । इस शरीर की पत्नी संज्ञा है जो तीव्रपदी है । इसलिये इन पांचों प्रकार की बुद्धियों की पत्नी द्रौपदी संज्ञा है जिसके पांच पुत्र हैं----शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध । इस प्रकार पुनः सिद्ध होता है कि दोनों पक्षों के नामों का चयन भी पक्षों के द्वारा किय जाने वाले प्रतिनिधित्व के अनुरूप है । भूमिका के लिये भी जो श्लोक लिये गये हैं वहां पर भी नामों में सावधानी बरती गई है । कलुषित और विषाक्त नाम कौरवों को तथा शक्ति और तेज के नाम पाण्डव पक्ष को बांटे गये हैं ।

कैसा है यह पाण्डु और उसकी पाण्डव सेना ! किस प्रकार सुसज्जित है उस शरीर-धारी की तेजोमयी सेना ! पराक्रमी युधामन्यु है अर्थात् प्रलयंकर यज्ञाग्नि का तेज है वह

तथा अति बलशाली (उत्तमौजा) उत्तम ओज कान्ति है उसके मुखमण्डल पर। अभिमन्यु अर्थात् यज्ञाग्नि (आत्मकुण्ड) की ओर जाता हुआ सुन्दर ओजस्वी बलवान एवं प्रलयंकर तेजस्वी दिख रहा है। उसकी पत्नी रूपी संज्ञा द्रोपदी के पांचों पुत्ररूपी पांचों शक्तियां शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध सब सतर्क हैं। मायाओं युद्ध करने के लिये योद्धा के समान तैयार हैं।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! हमारे पक्ष में भी जो प्रधान हैं उनको आप समझ लीजिये। आप के जानने के लिये मेरी सेना के जो सेनापति हैं उनको कहता हूं।

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ॥८॥

आप और पितामह भीष्म तथा कर्ण और संग्राम विजयी कृपाचार्य तथा वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण और सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा।

कर्ण शब्द का अर्थ है छेदना, कान, दस्ता, बेंट तथा समकोण के सामने की तिरछी रेखा।

विकर्ण का अर्थ है (विशिष्टौ कर्णौ यस्य) कानों की विशेषता वाला; दुर्योधन का भाई (धार्तराष्ट्र) एक साम तथा एक प्रकार का बाण। भीष्म के शब्दार्थ हैं भयंकर; भयानक रस; राक्षस तथा शान्तनु-पुत्र पितामह भीष्म। भूरिश्रवा का शब्दार्थ है प्रचुर कान अथवा सुनना। इसका लक्ष्यार्थ जो कान से प्रचुर सुनता हो। कान फूकने वाला अथवा अफवाहों में विश्वास करने, कराने वाला। सोम अर्थात् मन का पुत्र है। यह सात्यकि द्वारा युद्ध में मारा जाता है। अफवाह को सत्य मार देता है।

अश्वत्थामा (अश्वस्य इव स्थाम बलम्) अश्व के समान स्थायी बल हो जिसका। अश्वत्थामा अमर है। युद्ध के अन्त में, किम्बदन्तियों के अनुसार; पत्थर का होकर गंगा में समाधिस्थ हो जाता है इससे लगता है कि पृथ्वी माया [Gravity] गुरुत्वाकर्षण (जो कि योग एवं यज्ञ तथा स्वर्गारोहण में बाधक है) का प्रतीक रूप शब्द लिया गया है।

इस प्रकार हम पुनः देखते हैं कि कौरवपक्ष के योद्धाओं के नाम विष, भयंकरता, भटकाव, विपरीत खिंचाव तथा लिप्साओं पर आधारित हैं। पक्षपात नामों में स्पष्ट है।

यहाँ तक कि कौरवों के पितामह देवव्रत को भी भीष्म अर्थात भयंकर, भयंकर रस (विष) तथा राक्षस कहकर पुकारा गया; जो कि कौरव पक्ष के संकल्प का प्रतीक है। यदि उनकी प्रतिज्ञा पर उन्हें नाम देना ही था तो अटल, ध्रुव, आदि नामों से पुकारा जा सकता था। ऐसा नाम जिसका शब्दार्थ अपशब्द हो देने की क्या आवश्यकता थी?

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नाना शस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्ध विशारदाः ॥९॥

और भी बहुत से शूरवीर अनेक प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों से युक्त मेरे लिए जीवन की आशा को त्यागने वाले सब के सब युद्ध में चतुर हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

भीष्म (कौरवों के संकल्प रूप) द्वारा रक्षित हमारी वह सेना सब प्रकार से अजेय है और भीम द्वारा रक्षित इन लोगों की यह सेना जीतने में सुगम है। भीम पाण्डवों के संकल्परूप हैं।

अयनेषु च सर्वेषु यथा भागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

इसलिए सब मोर्चों पर अपनी जगह स्थित रहते हुये आप लोग सबके सब ही निःसंदेह भीष्म पितामह की ही सब ओर से रक्षा करें।

इस प्रकार एक ओर रात्रि की गहन कालिमा, दूसरी ओर उज्जवल दिन का प्रकाश है। एक राक्षस विष, मांस भक्षी छलावे पक्षी, मुरदाखोर कौवा, कान फूंककर भ्रमाने वाला, वहिर्मुखी गुरुत्वाकर्षण आदि के पर्यायवाची नामों पर नाम धरानेवाले तमरूप मायावी योद्धा हैं। लिप्साओं एवं उपलिप्साओं के प्रतीकरूप हैं। दूसरी ओर तेजस्वी यज्ञोपवीतधारी योद्धा हैं। तमरूप मायाओं को नष्ट करने की उसमें तेज, ओज, सत्य, संकल्प, लक्ष्य, परम-ज्ञान, भक्ति, श्रद्धा आदि अति प्रलयंकर शक्तियों से युक्त है। सारी शक्तियां आज प्रलयंकर योद्धा अजेय महारथी बन गई हैं।

दिव्य-दृष्टा की महानतम् कृति श्रीमद्भगवद्गीता के ये श्लोक तथा आगे के श्लोक भूमिका के रूप में दृश्य को स्पष्ट करते चल रहे हैं। जिस प्रकार महाभारत युद्ध (?)

में कौरव और पाण्डव सेनायें आमने-सामने खड़ी हुई होंगी---ठीक उसी प्रकार आज मायाओं के महासमर महाभारत में-----एक ओर तम रूप, घृणित, अन्धेकाल रूपी धृतराष्ट्र की मायायें रूपी धार्तराष्ट्र एवं उपमायारूप उनके सहयोगी हैं। तथा दूसरी ओर पांच तत्व से बना शरीर पाण्डु तथा उसकी पांच प्रकार की स्पष्ट बुद्धियां पाण्डव एवं आत्मा कृष्ण तथा तप-गुण रूप नाना तेजस्वी शक्तियों रूपी नाना महारथी हैं। भूमिका कवि स्पष्ट करता चल रहा है। उस काल में रहस्यवाद तथा रूपकवाद का ही विशेष प्रचलन था, जो एक बहुत लम्बे काल तक रहा है।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

कौरवों में वृद्ध बड़े प्रतापी भीष्म ने उस (दुर्योधन) के (हृदय में) हर्ष उत्पन्न करते हुए सिंह की नाद के समान गर्जकर शंख बजाया।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

उसके उपरान्त शंख और नगाड़े तथा ढोल, मृदङ्ग और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। वह शब्द बड़ा भयंकर हुआ।

"ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

इसके अनन्तर सफेद घोड़ों से युक्त उत्तम रथ में बैठे हुए श्री कृष्ण महाराज और अर्जुन ने भी अलौकिक शङ्ख बजाये।

पुनः हम पाते हैं कि यहां पर कवि अर्जुन के घोड़ों के रंग का वर्णन करने से नहीं चूकता है। अर्जुन का शब्दार्थ है दिन का प्रकाश तथा उसके घोड़े दिन के प्रकाश के प्रतीक श्वेत हैं। यदि दुर्योधन के घोड़ों का वर्णन करता तो निश्चय ही उनका रंग काला बताता।

कुरुक्षेत्र में वानप्रस्थी श्वेत वस्त्र धारण करता है जो कि समर्पण का प्रतीक है। दण्डकमण्डल जब धारण करता है तो गेरुआ वस्त्र पहनता है, जो कुण्ड की ज्वालाओं का प्रतीक है। अब उसे शरीर यज्ञ करना है तो ज्वालाओं का चिन्तन सर्वत्र भासित होना चाहिए।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशंङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

श्री कृष्ण महाराज ने पाञ्चजन्य नामक शंख, अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख तथा भयानक कर्म वाले भीमसेन ने पौन्ड्र शंख बजाया।

कौरव पक्ष के शंखों का वर्णन न करके, केवल पाण्डव पक्ष के ही शंखों का वर्णन किया गया है। इसमें अवश्य कुछ रहस्य है।

कृष्ण पाञ्चजन्य शंख क्यों बजाते हैं ?

इसलिये कि कृष्ण आत्मारूपी हवनकुण्ड हैं। इस शरीर क्षेत्र के मात्र क्षेत्रज्ञ हैं। पांच तत्वों से बने इस शरीर के सृजक हैं। आतमा कृष्ण के अतिरिक्त कोई भी डाक्टर, वैज्ञानिक राजा, विद्वान भस्मी को वनस्पति में तथा वनस्पति को रक्त मांस में---तथा रक्त मांस को को बालक रूप में बदलना नहीं जानता है। इसलिये महाप्रभु कृष्ण पांचों तत्त्वों के जनक हैं। स्वयं पाञ्चजन्य हैं। इसीलिये कृष्ण सदा पाञ्चजन्य शंख बजाते हैं।

अर्जुन देवदत्त शंख क्यों बजाते ?

अर्जुन कौन है ? लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि ! अर्जुन का लक्ष्य क्या है ? यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर--त्याग एवं विरक्ति के पैनें बाणों द्वारा---सम्पूर्ण वाह्य मित्र-शत्रु चिन्तन को त्याग---दस इन्द्रियों रूपी, दस फन वाला कालिया नाग 'नथ'---अन्तर्मुखी हो---बुद्धिऔर आतमा के द्वैत को योग मार्ग से अद्वैत कर--**देवत्व** को प्राप्त होना।

लक्ष्य है 'देवत्व' को प्राप्त होना। इसलिए शंख है 'देवदत्त'। यदि लक्ष्य धरती जीतकर राजा बनने का होता तो सम्भवतः शंख का नाम होता 'राजदत्त'।

भीम का शंख पौन्ड्र क्यों है ?

भीम संकल्प बुद्धि हैं। इसलिये उनका शंख भी संकल्प शक्ति का प्रतीक होना चाहिये। इस लिये भीम इस अनन्त महानाद रूपी पौन्ड्र महाशंख को बजाते हैं।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख; नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाये।

युधिष्ठिर अनन्तविजय शंख क्यों बजाते हैं ?

युधिष्ठिर इस शरीर पाण्डु की धर्मबुद्धि हैं। उनका शंख अनन्त विजय है। धर्म के अतिरिक्त अनन्तविजय भला और होगी किसकी !

बड़े-बड़े प्रतापी योद्धा जो राज्य जीत लेते हैं---समय की मार खाकर--समयान्तर में चन्द मुट्ठी भस्मी में बदल--चल देते हैं। उनकी जीत---उनकी सर्वनाशा हार में बदल जाती है। उनके राज्य दूसरे लोगों को प्राप्त हो जाते हैं। अन्धा काल समय की करारी मार से उन्हें खण्डित कर--प्रत्येक जीत को--सर्वस्व पराजय में परिणत कर देता है। यहां जो हारता है, सो तो हारता ही है--जो जीतता है; सो भी हारता है।

जीतता है मात्र अन्धाकाल !

परन्तु जो यज्ञाग्नि में अटल हों--सशरीर तेज में बदल गया, काल की परिधि से निकल जो नित्य सनातन हो गया, उसकी जीत को हार में बदल सकता कौन है ?

इसलिये युधिष्ठिर जो सशरीर स्वर्ग जाता है--कालातीत है। उसके सम्मुख काल स्वयं पराजित है। इसीलिये यहाँ अनन्तविजय युधिष्ठिर की निःसन्देह् है।

यूं अनन्तविजय शंख बजाते हैं, धर्म-बुद्धिरूपी महाराज युधिष्ठिर !

नकुल का शंख सुघोष क्यों ?

नकुल तो ज्ञान बुद्धि है। ज्ञान है तो सुघोष है। ज्ञान ही सुघोष है। सुघोष है ही ज्ञान का प्रतीक रूप ! इसलिए नकुल सुघोष शंख बजाते हैं।

सहदेव मणिपुष्पक क्यों ?

सहदेव भक्ति बुद्धि हैं। भक्ति-मार्ग में विशेषता क्या है ? मूर्तियों को मणियों आदि के किरीट-आभूषण पहनाना। उन्हें पुष्पों से सजाना तथा स्तुति-आरती में भी आभूषणों-पुष्पों सहित उनकी शोभा गाना। इसलिये भक्ति मार्ग के अनुरूप ही शंख दिया--मणियों एवं पुष्पों से सुन्दर--मणिपुष्पक।

यूं उस शरीर पाण्डु की पांचों प्रकार की बुद्धियों ने पांच प्रकार के अपने-अपने प्रतीक रूप शंख बजाये तथा इन पांचों के हेतु आत्मा कृष्ण ने पाञ्चजन्य शंख बजाया।

इन शंखों की ध्वनि के साथ एक बार खुलकर सामने आ गया-----गूढ़ तत्त्व-दर्शन महान श्रीमद्भगवद्गीता का ! शंखों से पुनः सिद्ध हो गया कि यह युद्ध अध्यात्मिक है--भौतिक नहीं! ऐतिहासिक कदापि नहीं !

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

श्रेष्ठ धनुष वाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा विराट और अजेय सात्यकि (ने शंख बजाये)।

शिखण्डी के शब्दार्थ हैं मयूर-पुच्छ, तीर, पीली जूही, विष्णु का नामान्तर; शिव; कृष्ण ; द्रुपद के एक पुत्र का नाम ।

एक बार फिर स्टष्ट हो जाता है कि पाण्डव पक्ष के योद्धाओं के नामों का चयन भी पूज्य देवताओं एवं शक्तियों पर आधारित कर दिया गया है।

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

राजा द्रुपद और द्रोपदी के पांचों पुत्र और बड़ी भुजा वाला सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु इन सबने अलग-अलग शंख बजाये ।

सघोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥१९॥

और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथ्वी को भी शब्दायमान करते हुये धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिये ।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२०-२१॥

हे राजन् ! उसके उपरान्त कपिध्वज अर्जुन ने खड़े हुये धृतराष्ट्र पुत्रों को देखकर उस शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठाकर हृषीकेश श्रीकृष्ण महराज से यह बचन कहा--हे अच्युत ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करिये ।

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥

जब तक मैं, इन स्थित हुए, युद्ध की कामना वालों को अच्छी प्रकार देख लूं (कि) इस युद्ध रूप व्यापार में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में कल्याण चाहने वाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आये हैं उन युद्ध करने वालों को मैं देखूंगा ।

संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति ॥ २५ ॥

संजय बोला--हे धृतराष्ट्र ! अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे हुए, महाराज श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और सम्पूर्ण राजाओं के सामने उत्तम रथ को खड़ा करके ऐसे कहा (कि) हे पार्थ! इन इकट्ठे हुए कौरवों को देख ।

अब भूमिका से निकलकर हम मूल धारा की ओर बढ़ रहे हैं । यहाँ विशेष बात जो ऊपर वाले श्लोक में है--कि महाराज श्रीकृष्ण ने रथ को दोनों सेनाओं के बीच में, भीष्म और द्रोण के सामने और **सम्पूर्ण** राजाओं के सामने खड़ा किया । एक साथ रथ सबके सामने कैसे खड़ा हो सकता था ? क्या जितने राजा थे, कृष्ण-अर्जुन उतने ही रूप में सबके सामने स्थापित हो गये ? अथवा ध्यान द्वारा उस वानप्रस्थी के सम्मुख वे सारे अस्तित्व (माया के) प्रकट हुये--जिनसे लड़कर आज चिन्तन मुक्त-होना है उसे ?

महाभारत युद्ध हो । हजारों की सेना एक समय में युद्ध लड़े सैकड़ों महायोद्धा प्रतिदिन युद्धस्थल में उतरें । तब एक ही रथ--एक ही समय पर; सब राजाओं के सम्मुख

कैसे खड़ा हो सकता है ? पुनः ये सारे राजा युद्ध लड़ने आये हैं। गले मिलकर हाल-चाल पूछने के लिये तो एकत्र नहीं हुए। सब के सब अपनी-अपनी सेनाओं के साथ आक्रामक एवं आक्रमण को तोड़ने के लिये, अनुकूल परिस्थितियां बनाकर खड़े हुए हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक राजा के सम्मुख कृष्ण-अर्जुन के रथ का स्थापित हो जाना--सर्वथा रथ-कौशल और युद्ध कौशल से असम्भव है। स्पष्ट है कि योद्धा और युद्ध यहाँ--और ही है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान् ।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥ २६ ॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि ।
तान्समीक्ष्यसकौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

उसके उपरान्त उस पृथापुत्र अर्जुन ने इन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए पिता के भाइयों को, पितामहों को, आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को तथा मित्रों को, श्वसुरों को और सुहृदो को, भी देखा।

उन खड़े हुए सम्पूर्ण बन्धुओं को देखकर वह अत्यन्त करुणा से युक्त हुआ, कुन्ती-पुत्र अर्जुन शोक करता हुआ यह बोला।

इस श्लोक की विशेषता यह है कि अर्जुन दोनों ही पक्षों को देखता है। उसे तो केवल शत्रुपक्ष को ही देखना चाहिये था ? अर्जुन से युद्ध की कामना वाले तो विपरीत पक्ष के लोग थे।

नहीं ! आज अर्जुन को इस युद्ध-व्यापार में अच्छे-बुरे, स्वजन-दुर्जन, मित्र शत्रु, सबसे युद्ध करना है। अर्जुन रूपी वानप्रस्थी को कुरुक्षेत्र में यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव पर, प्रतिज्ञा एवं संकल्पों द्वारा (प्रत्येक स्वजन-दुर्जन का ध्यान द्वारा प्रकट कर) मारना (त्यागना) है। उसे सम्पूर्ण वाह्य स्वजन, उनके चिन्तन तथा सब प्रकार की लिप्साओं से मुक्त होना है। आज इस संसार रूपी महासमर में जिसने उसका साथ दिया--तथा जो उससे विपरीत हो लड़ा उससे---उन सबको त्यागना है उसे ! जब तक सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन से मुक्त नहीं होगा, वह अन्तर्मुखी न हो सकेगा। योग का मार्ग तो शरीर के भीतर है। जो बहिर्मुखी है, बाहर भटक रहा है; वह योगी कैसा ? इसलिये आज उसे सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को त्यागना है। अन्तर्मुखी होना है, तभी तो योग मार्ग पर चल सकेगा।

इस प्रकार आत्मा कृष्ण द्वारा दिखाये गये स्वजनों, मित्रों, हितैषियों, आचार्यों---सबको देखकर अत्यन्त करुणायुक्त हुआ---लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि अर्जुन, आत्मा कृष्ण से बोला :-

'हे कृष्ण ! कैसा युद्ध करवा रहे हो भयंकर ! तुम कहते हो कि यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव पर, त्याग के पैनें दिव्यास्त्रों द्वारा, सम्पूर्ण वाह्य स्वजनों, मित्रों, अच्छे, बुरे सबको त्याग दूं ! आज घोषित कर दूं कि मित्र, शत्रु, स्वजन, माता, पिता, पुत्र, पौत्र सब मेरे द्वारा तथा मेरे लिये समाप्त हो गये । गुरुजन मृत हो गये । इस प्रकार सबको, स्वयं से मारकर; दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथः अन्तर्मुखी हो ; तुम्हारे संग योग करूं ! अरे ! मधुसूदन ! आज यह कैसी विचित्र घड़ी आई है। हा !! आज सारे प्रिय-अप्रिय वाह्य चिन्तन मात्र को त्यागना है मुझे ! इस कुरुक्षेत्र में सबको मृत हुआ घोषित कर, वानप्रस्थी हो, वन गमन करता है मुझे। ! (वन जाकर अन्तर्मुखी हो, आत्मा के संग योग करके, बुद्धि और आत्मा के द्वैत को अद्वैत कर, शरीर सामग्री को आत्मा हवन-कुण्ड में यज्ञकर सदा के लिये कृष्णमय हो; स्वयं कृष्ण बनना है मुझे ।)

परन्तु रे मधुसूदन ! हे माधव !! क्या यह महापाप नहीं ?

क्या यह मित्र द्रोह, जाति द्रोह स्वजन द्रोह, सन्तति द्रोह, गुरु द्रोह, समाज द्रोह, न होगा?

उस वानप्रस्थी के हृदय में पांच प्रकार के संशयात्मक प्रश्न हैं ; जिन्हें श्रीमद्भगवद्-गीता में नाटकीय ढंग से उठाया गया है ।

प्रथम सन्देह है कि सबका द्रोही बनना, सबको त्यागना क्या अधर्म नहीं है ?

अब तक सारे शास्त्रों में तो यही पढ़ते आये कि मातृभक्त हो, पितृ भक्त हो, समाज-भक्त हो, गुरुभक्त हो---अन्यथा महापापी होगा । अधम गति को जावेगा आदि । तब क्या धर्म का विपरीत भी धर्म हो सकता है ?

दूसरा सन्देह, उस वानप्रस्थी के हृदय में है कि सबके साथ मैं अपनी पत्नी को भी त्याग रहा हूं। आश्रयहीन पत्नी, आश्रय के लिए--क्या भटक नहीं जावेगी ? तब क्या मैं वर्णसंकार का कर्ता नहीं बनूंगा ? पुराणों में तो यह महापाप है । इससे सात पितर स्वर्ग से गिरकर अधोगति को प्राप्त हो जायेंगे ,

यह प्रश्न वानप्रस्थीरूपी अर्जुन का बहुत ही सामयिक प्रश्न था। उस काल में साम्प्रदायिकता अपने पूरे यौवन पर थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, इन चार वर्णों के अतिरिक्त कुछ नई जातियों का भी अभ्युदय हो रहा था। एक भयंकर जाति विनाश के उपरान्त इस प्रकार की जातीय वर्णसंकरता स्वाभाविक ही थी। ऐसी वर्णसंकर जातियों को शेष वर्ण के लोग घृणा और हिकारत की दृष्टि से देखते थे। इसलिए वर्ण संकरता के भयावह प्रश्न का उद्धार भी इस पुस्तक में किया गया। इसी लिये वानप्रस्थीरूपी अर्जुन से युद्धोपरांत की वर्णसंकरता का प्रश्न यहां उठवाया गया :

तीसरा संदेह, जो उस वानप्रस्थी के हृदय में है कि क्या आवश्यक है कि मैं सशरीर तेज में बदल सकूंगा ? सम्भव है, मैं बीच में ही इन मायाओं द्वारा नष्ट कर दिया जाऊं। तब तो मैं इधर से भी गया और उधर से भी।

चौथा सन्देह है कि यदि सबको त्यागकर मैं योग और यज्ञ द्वारा सशरीर तेज में बदल भी गया––तो उसका क्या प्रयोजन ? अकेला राजा ? न तो कोई चाहने वाला ! न गाने वाला और न पहचानने वाला। सबको तो मार ही दिया ! अकेला स्वर्ग को भी क्या करूँगा ?

पांचवा सन्देह है कि इस योग-युद्ध से क्या प्रयोजन ? इससे तो अच्छा है कि युद्ध न कर (योग मार्ग का अनुसरण न कर) मैं भिक्षा का अन्न ग्रहण करता हुआ समयान्तर मे, निरस्त्र इन्हीं मायाओं द्वारा चन्द मुट्ठी भस्मी में बदल दिया जाऊं ! सभी लोग तो इसी मार्ग से जा रहे हैं। इसमें ही क्या बुराई है ? तब मैं क्यों इस भयंकर युद्ध का आवाहन करूँ ?

यहाँ अर्जुन भिक्षा के अन्न को ग्रहण करने की बात करता है। क्या एक क्षत्रिय राजा, अपूर्व योद्धा, बुद्धिमान, तेजस्वी––यदि युद्ध नहीं करेगा तो उसे भिक्षा मांगकर ही जीवन-यापन करना पड़ेगा ? क्या वह अन्य किसी सम्मानजनक कर्म के द्वारा जीवन-यापन नहीं कर सकता ? फिर अर्जुन ने क्यों कहा कि युद्ध न कर, भिक्षा का अन्न ग्रहण करते हुए, निरस्त्र इन मायाओं द्वारा मारा जाना·········

भिक्षुक कौन है ? हम सब ! अमरीका का राष्ट्रपति हो; चाहे यहाँ का प्रधान मन्त्री हो, धन्ना सेठ हो अथवा कोई महान डाक्टर, वैज्ञानिक हो–––सब भिक्षा का अन्न ग्रहण

करते हैं। कोई भी, एक बोरा भस्मी से एक समय का भोजन उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। आत्मा, राम, कृष्ण, ॐ रूपी हवनकुण्ड ही, वृक्ष-पौधों के अन्तराल, क्षीरसागर, में प्रकट होकर भस्मी को नाना वनस्पतियों में बदल रहा है। इसलिए आज भी एक समय के भोजन के हम सब भिखारी हैं। दाता एक आत्मा मधुसूदन हैं। उस भोंजन से एक बूंद रक्त भी बनाना हम नहीं जानते हैं। वह आत्मा ही हमारे शरीर में भोजन को रक्त-मांस आदि में बदलकर उसे पुनः बालक का रूप गर्भ में दे रहा है। इस प्रकार हम एक बूंद रक्त के भी भिखारी हैं। दाता मात्र तत्त्व पुरुष कन्हाई है।

कौन भिक्षुक नहीं है ?

जिसने बुद्धि और आत्मा के द्वैत को अद्वैत कर दिया। वही अमर आत्मा से सृष्टि का रहस्य जान—ब्रह्मर्षि के महान पद को प्राप्त हो सका। वही भिक्षुक नहीं हैं। क्योंकि अब ब्रह्मा बन गया है वह ! स्वयं नाना सृजन कर सकने में समर्थ है। वह इच्छाधारी है।

उस वानप्रस्थीरूपी अर्जून का संकेत इसी ओर है। जैसे अन्य राजा, योद्धा, विद्वान, धनिक, सब भिक्षा का अन्न 'कृष्ण' से ग्रहण करते हैं उसी प्रकार मैं योग-मार्ग का अनुसरण न कर; अन्य लोगो की भांति ही भिक्षा का अन्न ग्रहण करते हुए, समाज तथा स्वजनों की तथाकथित सेवा करते हुए; समयोपरान्त मायाओं द्वारा नष्ट कर दिया जाऊँ—तो इसी में क्या बुराई है।

इस प्रकार आगे आने वाले श्लोकों में तथा दूसरे अध्याय के, पूर्व के कुछ श्लोकों में इन्हीं पांच संदेहों को नाटकीय ढंग से उठाया गया है। आगे चलकर, यथास्थान इनका निराकरण किया गया है।

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२८-२९॥

अर्जुन ने कहा—हे कृष्ण ! इस युद्ध की इच्छा वाले खड़े हुए स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे अंङ्ग शिथिल हुए जाते हैं और मुख (भी) सूखा जाता है और मेरे शरीर में कम्प तथा रोमांच होता है।

गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वचैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

हाथ से गाण्डीव गिरता है और त्वचा भी बहुत जलती है तथा मेरा मन भ्रमित-सा हो रहा है। इसलिए (मैं) खड़ा रहने को भी समर्थ नहीं हूं!

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव! लक्षणों को भी विपरीत (ही) देखता हूं (तथा) युद्ध में अपने कुल को मारकर कल्याण भी नहीं देखता।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण (मैं) विजय को नहीं चाहता और राज्य तथा सुखों को (भी) नहीं चाहता। हे गोविन्द! हमें राज्य से क्या (प्रयोजन है) अथवा भोगों से तथा जीवित बने रहने से (भी) क्या प्रयोजन है।

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
तइमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥३३॥

हमें जिनके लिए राज्य-भोग और सुखादिक इच्छित हैं वे (ही) यह सब धन और जीवन को त्यागकर युद्ध में खड़े हैं।

राज्य किसका? जीवन किसका? और भोग किसके? भिक्षुक का तो कोई राज्य होता नहीं। सो राज्य तो अन्धे धृतराष्ट्र का ही रहता है। जब तक काल जीता न जाए तो राज्य, जीवन और भोग तो भ्रम मात्र हैं। यहाँ वानप्रस्थी रूपी अर्जुन जो इस सत्य को जान चुका है, वह जानता है कि अहंब्रह्मास्मि के बिना राज्य, जीवन, भोग भ्रममात्र हैं। वस्तुतः मैं उन्हें नही भोगता हूं---वरन् ये मेरे जीवन के अमूल्य क्षणों को भोगकर उन्हें भस्मी के कणों में बदलते जा रहे हैं। अज्ञान के कारण ऐसा भासता है कि मैं उन्हें भोग रहा हूं। इसलिए चेकितान अर्थात् ब्रह्मा जैसा परम ज्ञानी---वह वानप्रस्थी यही सन्देह प्रकट कर रहा है कि यदि राज्य अर्थात् सम्पूर्ण पृथ्वी का अनन्त अधिपतित्व, भी मिल गया तो

भी इन सबके बिना क्या मैं भोग सकूंगा ? क्योंकि आज तो मनसा-वाचा-कर्मणा मैं इन सबको सदा के लिए मार (त्याग) रहा हूं। उपरोक्त दोनों श्लोकों का यही लक्ष्यार्थ है।

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥३४॥

गुरुजन, ताऊ-चाचे, लड़के और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, साले, तथा सम्बन्धी लोग हैं।

स्पष्ट है कि गुरुजन और प्रिय (वाह्य) लड़के भी आज उसे त्यागने हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥

हे मधुसूदन ! (मुझे) मारने पर भी अथवा तीन लोक के राज्य के लिए भी (मैं) इन सबको मारना नहीं चाहता (फिर) पृथ्वी के लिए (तो) कहना ही क्या है।

पृथ्वीपति तो काल धृतराष्ट्र है। काल को जीतने वाले की ही यह पृथ्वी है, अन्यथा तो उसका शरीर भी काल की सम्पत्ति हो जावेगा।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।
पापमेवा श्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

हे जानर्दन ! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर (भी) हमें क्या प्रसन्नता होगी। इन आततायियों को मारकर (तो) हमें पाप ही लगेगा।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तु धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः श्याम माधव ॥३७॥

इससे हे माधव ! अपने बान्धव, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिये हम योग्य नहीं हैं। क्योंकि अपने कुटुम्ब को मारकर (हम) कैसे सुखी होंगे ?

योग मार्ग में जा रहा वह वानप्रस्थी रूपी पांच प्रकार बुद्धियों का समूह पाण्डव जानता है कि कौन उसके सगे सम्बन्धी हैं तथा कौन उसके कौरव हैं।

प्रत्येक व्यक्ति के सगे-स्वजन उसके शरीर के भीतर हैं। उसके पांचों भाई, माता, पिता, पत्नी, तथा पुत्र भी मारे—जो शरीर में व्याप्त हैं—उस शरीरधारी पाण्डव के स्वजन हैं।

शरीर से बाहर प्रत्येक, रिश्तेदार- स्वजन के लिये, मैं कौरव हूँ—— वह पाण्डव है। तथा वे सारे कौरव हैं——मैं पाण्डव हूँ। अर्थात् यहां प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिये कौरव है तथा स्वयं में पाण्डव है। उसके शरीर के भीतर ही उसका सम्पूर्ण पाण्डव-परिवार समाया हुआ है। कुरु-क्षेत्र के स्थल पर, यज्ञकुण्ड के सम्मुख, आज वानप्रस्थी योगी की लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि अर्जुन को नाटकीय ढंग से इस महानतम तत्व का दर्शन कराया जा रहा है। भीतर पाण्डव——बाहर कौरव ! सर्वत्र ! प्रत्येक व्यक्ति में !!

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभ से भ्रष्ट-चित्त हुए यह लोग कुल के नाशकृत दोष को और मित्रों के साथ द्रोह करने के पाप को नहीं देखते हैं !

यहां दूसरा संशय उठा है कि त्यागना (मारना) क्या यह मित्र द्रोह, स्वजन-द्रोह नहीं है। सारे शास्त्र और पुराण तो इसे महापाप कहते हैं। कुलघाती होना तो महापाप है।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

हे जनार्दन ! कुल के नाश करने से होते हुए दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये।

यहां तथा अगले श्लोकों में श्रीमद्भगवद्गीता का दिव्य कवि, उस समय के एक भयंकर सामाजिक प्रश्न को उठा रहा है। महाभारत अथवा कोई अति विनाशकारी दैवी प्रकोप के कारण सम्पूर्ण मनुष्य जाति नष्ट-भ्रष्ट हो चुकी थी। वर्ण व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। उसके उपरान्त भी अज्ञान और समृद्धिहीनता तथा पंगुता के कारण—— सम्पूर्ण पृथ्वी असंख्यों छोटे-छोटे राज्यों में परिणत हो चुकी थी। इनमें निरन्तर भयंकर युद्ध होते रहते थे। साम्प्रदायिकता अपने चरम पर थी। नित्य की युद्ध हत्याओं के कारण, आश्रयहीन स्त्रियां, आश्रय के लिये भटक जाती थीं। जिससे वर्ण-व्यवस्था नाममात्र को रह गई थी। नयी-नयी वर्णसंकर जातियों का अभ्युदय होने लगा था।

साम्प्रदायिक रूढ़िवाद तथा तथाकथित धर्मों के तथाकथित धर्माचार्य इस वर्ण-संकरता के महादोषों का प्रचार कर सम्पूर्ण जातियों में घृणा, राग-द्वेष, ईर्ष्या और छुआ-

छूत, ऊंच-नीच, की, न पटने वाली खाइयां, खोदते चल रहे थे। वर्णसंकर जातियों का जीना दुश्वार कर दिया गया था। उनके द्वारा लाया दूध तो उन लोगों को स्वीकार्य था परन्तु उनका स्पर्श तथा सामाजिक साम्यता कतई स्वीकार न थी। धर्म की आड़ में उन्हें वर्ण-संकरता के दोष को मिटाने के लिये खूब लूटा जाता था। उनकी स्त्रियों को अपमानित किया जाता था। उनके बच्चों को बस्तियों में घुमने नहीं दिया जाता था।

इसका कुछ अन्य साम्प्रदायिक गुरु अन्य प्रकार से भी लाभ उठाते थे। नये-नये ढकोसले तथा पाखण्ड के धर्मरूपी साम्प्रदाय बना-बना कर उन्हें अपना अनुयायी बनाकर, खूब लूट रहे थे। इस प्रकार अज्ञान और महापापों का बोलबाला था। इसी भयावह समस्या को यहां पर वानप्रस्थी अर्जुन दूसरे ढंग से उठा रहा है।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुल के नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नाश होने से सम्पूर्ण कुल को पाप भी बहुत दबा लेता है।

यह सारे उन तथाकथित धर्माचार्यों द्वारा प्रचारित तर्क हैं जो यहाँ निराकरण के लिये उठाये जा रहे हैं।

क्योंकि यही समस्या तो वानप्रस्थी रूपी अर्जुन के सम्मुख भी है। उसे भी तो आज सम्पूर्ण को मारना (त्यागना) है। तब उसकी पत्नी तो आश्रयहीन होगी। क्या वह आश्रय के लिये भटक न जावेगी? तब क्या वह वर्ण संकरता के तथाकथित दोष से दब न जावेगा? आदि।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४१॥

हे कृष्ण! पाप के अधिक बढ़ जाने से कुल की स्त्रियां दूषित हो जाती हैं (और) हे वार्ष्णेय! स्त्रियों के दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥

वर्णसंकर कुलघातियों को और कुल को नरक में ले जाने के लिये ही (होता है)। लोप हुई पिण्ड और जल की क्रिया वाले इनके पितर लोग भी गिर जाते हैं।

यहां विशेष विचारणीय यह है कि युधिष्ठिर के अतिरिक्त चारों पाण्डव एवं द्रौपदी अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं; तथा उनका कोई संस्कार नहीं होता है। श्रीमद्‌भगवद्-गीता ने इस वर्णसंकरता के नाम पर जन-जातियों को भटकाये जाने का तथा गुरूडम का खुलकर विरोध किया और ममता की सुवासित समीर चलाई। इसमें भगवान कृष्ण; भगवान होकर भी, स्वयं को मित्र एवं सखा कहलाते हैं। गुरू न बन, सबके सम होना पसन्द करते हैं।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥

इन वर्णसंकर कारक दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥

हे जनार्दन ! नष्ट हुये कुलधर्म वाले मनुष्यों का अनन्तकाल तक नरक में वास होता है। ऐसा (हमने) सुना है।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४५॥

अहो ! शोक है (कि) हमलोग (बुद्धिमान होकर भी) महान पाप करने को तैयार हुये हैं। जो कि राज्य और सुख के लोभ से अपने कुल को मारने के लिये उद्यत हुए हैं।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥

यदि मुझ शस्त्र रहित, न सामना करने वाले को, शस्त्रधारी धृतराष्ट्र के पुत्र रण में मारें (तो) वह (मारना भी) मेरे लिये अति कल्याणकारक होगा।

संजय उवाच

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

संजय बोला—रणभूमि में शोक से उद्विग्न मनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाण सहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

इस प्रकार प्रथम अध्याय पूर्ण हुआ। भूमिकारुपी किनारे के जल से निकल, हमारी नाव अध्यात्मिक-तत्व-ज्ञानरूपी नदी की बीच धारा में आ गई। युग-युगान्तर के गहन अन्तराल सिकुड़ते चले जा रहे हैं। अतीत और वर्तमान के अन्तर अब रहे नहीं शेष हैं। अतीत और वर्तमान मिलकर मात्र वर्तमान हो गये हैं। कालरूपी धृतराष्ट्र का रथ दौड़ा रहा है, वर्तमान रूपी संजय ! हर क्षण भविष्य के खजाने से निकल——वर्तमान में जुगनू सा चमक ——भस्मी सदृश्य हो अतीत में लुप्त होता जा रहा है। तितलियों के पंखों पर सजा पराग, धीरे-धीरे धूल में मिलता जा रहा है। समय का रथ, वर्तमान सारथि द्वारा निर्बाध दौड़ाया जा रहा है। अंजुलि से जल टपक-टपक कर पुनः नदी के जल में मिलता जा रहा है। रीती अंजुलि————छूटा संग कन्हाई का————चन्द मुट्ठी भस्मी ! यही तो है। धूल में मिला पराग ! भविष्य की निधि————वर्तमान की चमक—— राख का ढेर अतीत हो गई।

मैं कौन हूँ ?

सनातन अध्यात्म का यह सबसे बड़ा प्रश्न है। जब तक मैं यह न जानूँ कि मैं कौन हूँ ; मैं दूसरे को जानने का दावा कैसे कर सकता हूँ ? लक्ष्य का निर्णय कैसे कर सकता हूँ ? इसके उत्तर कई प्रकार से उपनिषदों, महात्माओं ने दिये हैं; जिनमें एक उत्तर जो बहुमत में आता है——

मैं आत्मा हूँ !

परन्तु यह उत्तर सत्य और व्यवहार की कसौटी पर कितना खरा है, यह जानना परमावश्यक है। यदि मैं आत्मा हूँ, तो मुझे मेरे पिछले सारे जन्मों का ज्ञान होना चाहिये। आत्मा ही तो शरीर में भोजन को रक्तमांस में बदल रहा है। मुझे भोजन को रक्त-मांस -हड्डी-बाल आदि में बदलने का ज्ञान होना चाहिये। आत्मा ही तो भस्मी को नाना वनस्पतियों में यज्ञों द्वारा बदल रहा है। वही वनस्पति रक्त-मांस में बदल गर्भ में बालक का रूप ले रही है। आत्मा ही इस प्रकार भस्मी को बालक में बदल रहा है। यदि मैं आत्मा हूँ तो भस्मी को बालक बनाने के रहस्य मुझे मालूम होने चाहिये। परन्तु इसमें किसी प्रकार का भी ज्ञान नहीं मुझको ! तब इस आत्म-ज्ञान से रहित, मेरा यह दावा

करना कि मैं आत्मा हूँ--- कहां तक उचित है ? यदि कोई कहे कि वह डाक्टर है तो उसे डाक्टरी का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये। इसी प्रकार यदि कोई कहे कि मैं आत्मा हूँ तो उसे आत्मा द्वारा किये जा रहे कार्यों का ज्ञान तथा स्वयं कर सकने की क्षमता होनी चाहिये। मैं आत्मा कैसे हुआ ?

क्या मैं शरीर हूँ ?

आत्मरहित शरीर तो जड़ है। चेतन तो मात्र आत्मा है; मैं जड़ मात्र ही नहीं हूँ। खाता-पीता हूँ; चलता-फिरता हूँ ! चेतन हूँ ! तो मैं शरीर कैसे हुआ ?

तब फिर मैं कौन हूँ ?

दूसरा एक और विकट पक्ष है।

क्या द्वैत है और अथवा अद्वैत है ?

यदि द्वैत है और द्वैत ही रहेगा तो पूजा तपादिक का क्या प्रयोजन ?

यदि अद्वैत ही है तो योग किसका ? और किससे ?

इन सभी प्रश्नों का सरल और सरस उत्तर दिया गया है श्रीरामायण एवं श्रीमहाभारत में। राम तत्व को जाने बिना कृष्ण तक पहुंचना लगभग असम्भव है। इसलिये श्रीमद्भगवद्गीता के रहस्य को समझने से पूर्व श्रीरामायण के सूक्ष्म तत्वदर्शन पर विचार अवश्य कर लेना चाहिये।

राम नाम है आत्मा ॐ का ! दशरथ और दशानन मन की दो प्रकार की वृत्तियां हैं। जिसने दस इन्द्रियों को दस मुख बना लिया---वह दशानन हो गया। जिसने दसों इन्द्रियों को 'रथ' (लगाम लगाना) लिया, दशरथ हो गया। इस प्रकार दसों इन्द्रियों की लिप्साओं का अधिपति 'मन' इन्द्र ही दशरथ भी है और दशानन भी। सम्पूर्ण प्रकृति (शरीर) सीता है।

जिसने दसों इन्द्रियों को 'रथ' लिया! वह दशरथ हो गया। अन्तर्मुखी हो जा समाया आत्मा राम में ! मिटाकर अन्तर (द्वैत) बुद्धि (शरीर) और आत्मा का एक (अद्वैत) हो आत्मा राम से ---राम वन; नित्य का साथी हो---निकल गया काल की परिधि से बाहर।

बना ली दसों इन्द्रियां, दस मुख जिसने ---वीभत्स दशानन रावण हो गया। ठीक है कि पांच ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान भी खूब बटोर सका ! डिग्रियाँ बटोर लीं बहुतेरी ! परन्तु स्वयं से अनभिज्ञ, स्वयं को न जानता हुआ, रावण ही तो था। एक क्षण भी न जान पाया कि कौन था, जो तुझे भस्मी से सुन्दर वनस्पति में लाया ? कौन था जिसने तुझे वनस्पति में रक्त-मांस में बदल बालक का रूप दिया ? कौन है वह जो आज इस शरीर में भोजन को रक्त में बदल रहा है ? जिसकी कृपा से यह शरीर सड़ता नहीं; जिसके हटते ही मुर्दा शरीर सड़ने लगता है ? क्या जाने वह दशानन ! वह तो दसों द्वारों से भाग रहा है बाहर; और राम बैठे हैं भीतर !

जब यह बुद्धि सीता लक्ष्मण रेखाओं को पार कर जाती है, अर्थात् दशरथ-मार्ग को त्याग, दशानन-मार्ग पर चल देती है---राम त्याग जाते हैं इसे। बना के अर्थी मनदशानन, बांध रस्सी से---ले चलता है वायु-मार्ग से। कन्धों पर स्वजनों के, वायु-मार्ग से चिता पर आती है यह अर्थी सीता !

चिता की लकड़ियों पर राम की विरह की अग्नि में जल, भस्मी बनती है यह अर्थी सीता ! इस भस्मी को प्रवाहित करता हूँ जब जल में नदी के, करके संग पानी का, जंगलों की नाना अशोक वाटिकाओं में डोलती-भटकती है यह सीता !

पुनः यही भस्मी वृक्ष-पौधों के अन्तराल में राम की कृपा से यज्ञों द्वारा सुन्दर वनस्पति में --- तथा भोजन द्वारा वही वनस्पति नाना जीव-धारियों में पुनः लौटती है यह प्रकृति सीता !

राम नाम आत्मा तत्व पुरुष है ! सीता नाम रूपी जड़ प्रकृति है ! रावण नाम रूपी मायायें हैं ! यह शरीर जड़ है ! प्रकृति है ! आत्मा ही चेतन है !

श्रीरामायण के श्रीराम आत्मा हैं ! उनका युद्ध है मायाओं के अधिपति रावण से -----जिससे लौट सके; मायाओं द्वारा हर ली गई-----प्रकृति सीता ! आत्म तत्व राम चेतन है। प्रकृति रूप सीता जड़ है। इस प्रकार सृष्टि-चक्र में आत्मा, प्रकृति और

माया ही-----जीवन, जड़ता और विनाश है। राम-रावण युद्ध है; तत्व पुरुष आत्मा राम का; मायाओं के अधिपति रावण से-----जिससे यज्ञों द्वारा लौट सके प्रकृति सीता। पाकर सामीप्य और सानिध्य चेतन आत्मा का; जड़ता-त्याग (रावणी) पुनः चेतन हो सके। इसका विस्तार पूर्व के तत्व दर्शन "सनातन-दर्शन की पृष्ठ भूमि" पुस्तक में दे चुके हैं।

यहाँ विशेष बात यह है कि श्रीराम, श्रीविष्णु के अवतार हैं। सीता (प्रकृति-शरीर) पृथ्वी की बेटी है। जब राम और सीता का अद्वैत नहीं हो पाता है; सीता धरती में समा जाती है और राम विष्णुलोक चला जाता है। कितना भयावह द्वैत कायम हो जाता है। पुरूष और प्रकृति के बीच द्वैत की कितनी भयंकर दूरी !

यदि सीता, राम से अद्वैत कर सके, तो विष्णु की लक्ष्मी हो क्षीर-सागर उनके साथ जावे। अन्यथा एक को धरती में समाना पड़ेगा; दूसरे को क्षीरसागर जाना पड़ेगा।

प्रश्न उठता है कि इन दोनों में, मैं कौन हूँ ? तत्व पुरुष अथवा प्रकृति शरीर?

यदि मैं तत्व पुरुष आत्मा हूँ तो मैं इस प्रकृति सीता (शरीर) को जड़ता से चेतनता में लाया किस प्रकार ? मुझे नहीं मालूम! न मैं ऐसा करने की क्षमता ही रखता हूँ! तो मैं तत्व पुरुष आत्मा किस प्रकार हुआ?

दूसरी बात जो रामायण से स्पष्ट हुई कि द्वैत स्पष्ट है तथा अद्वैती करण लक्ष्य है।

द्वैत के अद्वैतीकरण का मार्ग है योग ! यह तत्व स्पष्ट किया श्रीमद्भगवद्गीता ने।

मैं कौन हूँ? इस तत्व को श्रीमद्भगवद्गीता ने संशयरहित ढंग से सुस्पष्ट किया है। योग-मार्ग की मात्र पुस्तक श्रीमद्भगवद्गीता ही है।

श्रीमद्भगवद्गीता में सीता का स्थान यह शरीर पाण्डु है, जिसके पाँच पुत्र पांच पाण्डव हैं। जो पांच बुद्धियां हैं। आत्मा कृष्ण सारथि हैं। यहां स्पष्ट द्वैत है। आत्मा और लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि का वार्तालाप ही कृष्ण-अर्जुन संवाद है। इसमें भी बुद्धि और आत्मा का स्पष्ट द्वैत है।

तथा अर्जुन का कृष्ण में ही यज्ञ हो कृष्णमय हो जाना, इस द्वैत का अद्वैत है----और यही मार्ग है परमपद का, जिससे पीछे आने वाली गति न हो ।

गीता में, 'मैं कौन हूँ' तत्व को बड़े ही सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है । मैं प्रकृति हूँ, जो आत्मा के सामीप्य से चेतन हूँ प्रकृति प्रदत्त इस शरीर, बुद्धि एवं इन्द्रियों द्वारा ही तो आत्मतत्व को जानने का प्रयास करता हूँ । चेतन मैं निश्चित हूँ ! परन्तु इस चेतन शक्ति से आत्मा के सारे गुण कहाँ जान पाया हूँ ? रक्त की बूंद, भोजन से, मैं सारी चेतना शक्ति द्वारा बना नहीं सकता; बनाने के रहस्य जान नहीं सकता; तो मैं निश्चय ही प्रकृति हूँ, जो आज आत्मा कृष्ण की कृपा से चेतनता को प्राप्त है ।

"हे अर्जुन ! पाण्डवों में मैं अर्जुन हूँ ।"

अर्थात् जो तू है सो मैं हूँ । स्पष्टार्थ कि मैं शरीर भी हूँ और आत्मा भी । तब रहस्य क्या है ? मैं शरीर भी हूँ और मैं आत्मा भी ?

अर्थात् माया का ही द्वैत है । प्रकृति और पुरुष के बीच में माया का समावेश रहने से दोनों भ्रमवश अलग-अलग भासते हैं यदि प्रकृति अपने सम्पूर्ण चेतन से मनसा-वाचा-कर्मणा इस माया को नष्ट कर दे तो प्रकृति और पुरुष का अद्वैत सदा के लिये हो जावे । इसी को 'योग' कहते हैं ।

माया रूपी चाकू एक ही तरबूज को बीच से काटता चल रहा है । यदि चाकू सफल हो गया तो दो टुकड़े हो जावेंगे--एक को धरती में समाना पड़ेगा---दूसरे को क्षीरसागर जाना पड़ेगा । एक ही फल के दो भाग । सृष्टि चक्र में पुनः दोनों को मिल-कर एक फल बनना पड़ेगा ; माया का चाकू यदि नष्ट हो जाये तो यह फल, जो वस्तुतः अमर फल है, कभी नष्ट न होने वाली स्थिति को प्राप्त हो जावे ।

जब तक आत्मा पुरुष का प्रकृति से अद्वैत नहीं होता तब तक उसे भी आवागमन के चक्कर में पड़ना पड़ेगा । यह एक विशिष्ट तत्व-दर्शन है । इसलिये यदि आत्मा और प्रकृति दोनों आवागमन के चक्कर से निकलना चाहते हैं तो उन्हें अद्वैत होना पड़ेगा । वरन् जितने जन्म अर्जुन के होंगे---कृष्ण को उतनी ही बार 'योग-माया' से प्रकट होना पड़ेगा ।

सम्पूर्ण शरीर सामग्री जब आत्मा हवनकुण्ड में यज्ञ हो जायेगी तो आत्मा परम हो, परम+आत्मा=परमात्मा; परम+ईश्वर=परमेश्वर——हो जावेगा। आवागमन समाप्त हो जावेगा। यह स्पष्ट तत्व-दर्शन गीता का है। इसका विस्तार अगले अध्याओं में सविस्तार होगा। इस प्रकार आत्म और परमात्म तत्व का विवेचन कृष्ण रूप में दर्शाया है; दिव्य कवि ने श्रीमद्भगवद्-गीता में।

अद्वैत कैसे होता है? किस प्रकार होता है? इसको स्पष्ट किया गया है स्वर्गारोहण में। योग मार्ग का स्वर्गारोहण कैसे होता है उसका विवेचन संक्षेप में यहाँ करते हैं।

वानप्रस्थी अट्ठारह दिन, नित्य होम-यज्ञकरता; योग मार्ग की दीक्षा लेता; संशयों का निवारण कर; मनसा-वाचा-कर्मणा अन्तर्मुखी हो; यज्ञोपवीत और शिखा को कुरूक्षेत्र में त्याग देता है। उसने मायाओं का महासमर जीत लिया है। अब सारे स्वजन भीतर हैं, बाहर के नाते-रिश्तेदार समाप्त कर दिये हैं। दण्ड-कमण्डल धारण कर चल दिया है जंगल को। उसका स्वर्गारोहण होगा।

वह वानप्रस्थो कौन है? शरीर रूप पाण्डु है। भक्तिबुद्धि सहदेव है; ज्ञानबुद्धि नकुल है; लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि अर्जुन है; संकल्पबुद्धि भीम है; धर्मबुद्धि युधिष्ठिर हैं; और साथ में संज्ञारूपी द्रौपदी। जा रहा है अध्यात्मिक स्वर्गारोहण को।

समाज और समाज के कोलाहल को पीछे छोड़ता, सघन वन में सदा के लिये प्रवेश कर गया है। पर्णकुटी बनाकर जंगल में रहने लगा है। वाह्य नाते-रिश्तेदारों का चिन्तन मात्र भी नहीं है उसको। मनसा-वाचा-कर्मणा, पूजा, ध्यान और योग में हो व्यस्त रहता है। प्रकृति की गोद में मस्त बैठा स्वर्गारोहण कर रहा है।

उसका अध्यात्मिक स्वर्गारोहण जारी है। तभी भक्तिबुद्धि सहदेव मूढ़तारूपी बर्फ की मृत्यु की गोद में सो गया। अब वह पुष्पों आदि के लिये वन-वन नहीं भटकता है। ध्यान के ही पुष्प चढ़ाने लगा है। निरन्तर ध्यान में ही रहने लगा है। भक्ति मार्ग का द्वैत अब मिट गया है। योगी अन्तर में स्थापित हो चुका है। अध्यात्मिक स्वर्गारोहण जारी हैं।

लीजिये ज्ञानरूपी नकुल भी मूढ़तारूपी मृत्यु की गोद में सो गया है। अब वाह्य ज्ञान भी मिट गया है अब वह ज्ञान के चरम को प्राप्त हो मूढ़ हो गया है। लक्ष्य का ज्ञान है जो अर्जुन है। लक्ष्य प्राप्ति का संकल्प शेष है जो भीम है। धर्म मात्र एक है---शरीर सामग्री को आत्मा-कुण्ड में यज्ञ करना--कुरु-यज्ञ----जो युधिष्ठिर है। तथा संज्ञा रूपी द्रोपदी भी है जो लड़खड़ा रही है। कभी संकल्प भीम का सहारा लेती है तो कभी लक्ष्य अर्जुन के सहारे चलने का प्रयास करती है। सहदेव और नकुल इस अध्यात्म रूपी बर्फीले हिमालय की मूढ़तारूपी बर्फ में दबकर सदा के लिये सो गये हैं। भक्ति और ज्ञान लुप्त हो गये हैं। योगी धीरे-धीरे अनन्त समाधि में स्थापित होता जा रहा है।

साथ न दे पायी और सो गयी---मूढ़ता रूपी बर्फ की मृत्युगोद में संज्ञारूपी द्रौपदी। योगी अब संज्ञा-शून्य हो अनन्त समाधि में स्थापित हो गया है। अब सम्पूर्ण वाह्य जगत उसको गहन रात्रि है और आत्मा सूर्य ही उसका दिन है, जो प्रकाशित भीतर है। वह भीतर पूर्ण जागृत है और बाहर मृतक-तुल्य सोया हुआ है। जहाँ उसका दिन है वहां सम्पूर्ण भूत प्राणियों की गहन रात्रि है।

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जार्गति संयमी।
यस्यां जागृति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ (गीता २/६९)

योगी का अध्यात्मिक स्वर्गारोहण जारी है। हिमालय सदा से सनातन अध्यात्म का प्रतीक रहा है। अध्यात्म की सनातन गंगा का भी उद्‌गम यही है। इस बर्फ के पहाड़ हिमालय पर बैठा योगी, अध्यात्मिक हिमालय पर चढ़ता जा रहा है। मूढ़तारूपी बर्फ के अतिरिक्त कुछ नहीं है। परन्तु कितनी मोहक-शुभ्र-धवल है यह मूढ़ता रूपी बर्फ !

अर्जुन ने भी दम तोड़ दिया। लक्ष्य का ज्ञान भी मिट गया। हठयोगी का हठयोग भीम है और यज्ञ की अग्नि में अटल हो गया धर्म युधिष्ठिर है। तेज की ज्योतिमय कान्ति शरीर पर प्रकट होने लगी है। शरीर तेजी से यज्ञ हो-हो कर तेज में परिवर्तित होता जा रहा है। उसके शरीर पर अरूणोदय के सूर्य का प्रकाश सा झलकने लगा है जो शनैः शनैः वड़ता जा रहा है। स्वर्गारोहण को जाते हुए योगी की धरती भी अब छूटने लगी है। कितना विचित्र सम्मोहक दृश्य है।

हठ भीम भी सो गया मूढ़तारूपी मृत्युगोद में। अब तो यज्ञ-कुण्ड कृष्ण है और उसमें स्थिर (अटल) खड़ा धर्मबुद्धि युधिष्ठिर है। यज्ञ निरन्तर है। तेज ही तेज प्रकट हो रहा है। करके आत्मा सूर्य का संग – -- सम्पूर्ण शरीर सूर्य सदृश्य हो रहा है। देखो द्वैत सदा के लिए अद्वैत होने जा रहा है। माया के भ्रम मिट गये हैं। सशरीर तेज में बदल युधिष्ठिर – – – प्रकृति और पुरुष के द्वैत को मिटा – – पृथ्वी माया के गर्भ से निकल – – स्वयं कृष्ण बन– – –क्षीरसागर में प्रकट हो गया है। यूं युधिष्ठिर सशरीर स्वर्ग चला आया है।

इस प्रकार इस कथा से; द्वैत का अद्वैतीकरण किस प्रकार होता है, स्पष्ट हो जाता है। इससे यह तत्व भी सुस्पष्ट हो जाता है कि महाभारत अध्यात्मिकयुद्ध है; ऐतिहासिक घटना का वर्णन इन धार्मिक पुस्तकों में नहीं है।

इस कथा से श्रीमद्भगवद्गीता का यहश्लोक स्पष्ट हो जाता है :–

शुक्ल कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ (८/२६)

इस प्रकार चितामार्ग और आतमकुण्ड मार्ग स्पष्ट हो जाते हैं। शरीर तो यज्ञ की सामग्री है – – यदि शरीर धारी स्वयं इस सामग्री को यज्ञ न कर सका– –तो यज्ञ का फल पावेगा कैसे ? यज्ञहीन को मोक्ष कैसा ? इसीलिए तो इसी पवित्र मार्ग द्वारा ही मात्र मोक्ष है अन्यथा मार्ग न कोई है। इसी से तो कहा है :–

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ (८/१६)

हे अर्जुन ! ब्रम्हलोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती स्वभाव वाले हैं। परन्तु मेरे (आत्म-कुण्ड) को प्राप्त होकर (उसका) पुनर्जन्म नहीं होता है। क्योंकि वह मेरा ही स्वरूप हो जाता है। इसलिये :–

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८/६६)

सर्व धर्मों (कर्मों; मार्गों) का त्याग कर एक मेरी (आत्मा-हवन-कुण्ड) की शरण हो। मैं तेरे को सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा। शोक मत कर!

सारे तमरूपी पाप, मुझ यज्ञ–कुण्ड की अग्नि में स्वतः भस्म हो जावेंगे और तू भी मुझमें यज्ञ हो सदा के लिये मेरा ही स्वरूप हो जावेगा। इस प्रकार 'मैं कौन हूँ ?' प्रश्न का समुचित उत्तर दिया है श्रीमद्भगवद्गीता ने। इसे यथास्थान पर, अगले अध्यायों में स्पष्ट करेंगे।

जब धर्मपुत्र युधिष्ठिर स्वर्ग पहुंचते हैं तो स्तब्ध रह जाते हैं। दुर्योधन वहाँ पहले से ही उपस्थित है। उनके मन में संशय उत्पन्न होता है। जिसका तत्वरुप निवारण है कि वह दुर्योधन दूसरे व्यक्ति के लिए कौरव है परन्तु स्वयं में तो प्रत्येक व्यक्ति पाण्डव है। इसलिए योग-मार्ग से स्वर्ग का अधिकारी है। युद्ध दुर्योधन और युधिष्ठिर के मध्य कदापि नहीं था। वरन् युद्ध तो मायाओं से था। जिन्हें नष्ट किये बिना योग-मार्ग का दर्शन हो पाना भी सम्भव नहीं था। इस प्रकार जिसे युधिष्ठिर, दुर्योधन जान युद्ध कर रहा था --वही दुर्योधन स्वयं को युधिष्ठिर जान और युधिष्ठिर को दुर्योधन मानकर युद्ध कर रहा था। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भीतर से पाण्डव तथा बाहर से माया के कारण कौरव बना हुआ है। वानप्रस्थी किसी को घृणा से अथवा द्वेष से अथवा दुर्गुणों से नहीं त्यागता है। वरन् सबको, सारे स्वजनों को इसीलिए त्यागता है कि वह अन्तर्मुखी हो योग-मार्ग द्वारा स्वर्गारोहण कर, देवत्व को प्राप्त हो सके। इसी प्रकार जिन स्वजनों को वह त्याग रहा है, वे स्वजन भी तो (अथवा उनमें कोई) उसे कौरव जान, योग-मार्ग के हेतु उसे त्याग (मार) रहा हो। तब दोनों ही एक दूसरे के लिए वाह्य रूप से कौरव हुए तथा भीतर दोनों ही पाण्डव हुए।

अधिक स्पष्ट करें। कोई व्यक्ति यहां कौरव नही है वरन् दो व्यक्तियों के बीच की माया (राग, द्वैष, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, दम्भ, प्रेम, हर्ष, चाहत, वात्सल्य, खिचाव) कौरव हैं तथा यही भीतर जाकर पाण्डव हैं।

सम्पूर्ण इन्द्रियों की लिप्साओं को त्याग देना; सम्पूर्ण इन्द्रियों के बहिर्मुखी चिन्तन को अन्तर्मुखी कर आत्मा कृष्ण के प्रति ही मोह, ममत्व, प्रेम, हर्ष उत्पन्न कर, सदा के लिए उसी में ही समर्पित हो जाना योग है। योग का अर्थ है मिलन! मिलन सभी प्रकार की चिन्तन की धाराओं का आत्मा कृष्ण रूपी सागर में! इसी कुण्ड में रोम-रोम का योग कर, कृष्णमय हो जाना तप है। तपस्या द्वारा सम्पूर्ण

शरीर को आत्मा हवन-कुण्ड में यज्ञ कर देना —— अहंब्रह्मास्मि का उद्घोष है यही ब्रह्मर्षि का महान पद है। यही धृतराष्ट्र की पराजय है।

इस दिव्य पुस्तक में वानप्रस्थीरुपी अर्जुन द्वारा प्रकट किये गये पाँच प्रकार के संदेह साम्प्रदायिकता पर तीखा व्यंग्य हैं। पाचों प्रश्न कटाक्ष रूप में दिये गये हैं। श्रीमद्भगवद्-गीता साम्प्रदायिकता की दुकानों की विरोधी है। इसका हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, सम्प्रदाओं से न तो कोई पक्षपात है और न ही विरोध है। यह तो आत्मा और प्रकृति के धर्म की पुस्तक है। यहां प्रकृति पाण्डु (सम्पूर्ण शरीर) है और आत्मा स्वयं तत्व पुरूष कृष्ण है। उस शरीर को जाति-भेद से गीता नहीं जानती है। चाहे वह शरीर हिन्दू है; मुस्लिम है; सिख है अथवा ईसाई है। गीता की दृष्टि में यह भेद मात्र भ्रमात्मक माया है। अन्यथा शरीर प्रत्येक ; आन्तरिक रुप पान्डु है तथा आत्मा कृष्ण है। अज्ञान के तम के कारण उनके नाना साम्प्रदायिक रूप दिखते हैं।

यदि आत्माओं में वर्णसंकरता नहीं तो फिर वर्णसंकरता का अस्तित्व कहां है ? क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति एक बूंद रक्त नहीं बना सकता। जो एक बूंद रक्त नहीं बना सकता ——उसकी सन्तान कहां है ? कोई विद्वान मुझे भोजन से एक बालक आत्मा की शरण हुए बिना, बना दे! फिर सन्तान जब उसी तत्व पुरुष आत्मा की है——वही एक मात्र पिता है ——तो एक पिता की नाना सन्तानें वर्णसंकर कैसे हो गई ?

यदि प्रकृति (शारीरिक) की वर्णसंकरता मानें तो भी यह हास्यास्पद मालूम पड़ती है। उदाहरणार्थ :— एक ईसाई मित्र, एक मुस्लिम बन्धु और सिख भाई दिवंगत हो गये। दो कब्रों में सो गये। एक भस्मी में बदल गया। जो कब्रों में लेटे थे उनका शरीर मिट्टी में, खाद में, बदल गया। बाजू वाले पेड़ों ने उन शरीरों को खाद रूप में ग्रहण कर लिया। दोनों उन पेड़ों के फलों में बदल गये। उधर सिख बन्धु की भस्मी भी खाद में बदल जड़ों द्वारा ग्रहण कर ली गयी। वह शरीर भी फलों में लौट आया। बाजार में बिकने आये उन फलों को पंडित जी, मौलवी साहब, पारसी मित्र आदि खरीद ले गये। भोजन में पंडित दम्पत्ति ने उन फलों को (जो मुस्लिम, ईसाई, सिख तीनों के शरीरों से) ग्रहण

किया; जो गर्भ में बालक बन बैठा। अब बताईये कि क्या इस बालक का शरीर वर्णसंकर नहीं है? कल यही बालक जो भोजन ग्रहण करेगा-----जो उसके शरीर का अंग बनेगा -----क्या वह भोजन वर्णसंकर नहीं है? क्या नित्य बढ़ता उसका शरीर वर्णसंकरता का प्रतीक नहीं है? यही व्यंग्य है वानप्रस्थी अर्जुन का साम्पदायिक पुस्तकों एवं गद्दीधारियों पर।

लगता है अध्यात्मिक तत्व को स्पष्ट करने हेतु कथानक और पात्रों का चयन भी वर्ण-संकरता की खिल्ली उड़ाने के लिए ही किया गया है। कुन्ती का अलग-अलग देवताओं से संतानों को प्राप्त करना क्या वर्ण-संकरता का प्रदर्शन नहीं? फिर द्रोपदी का पाँच पतियों की उभय पत्नी बनना; क्या वर्ण-संकरता नहीं? कृष्ण का अनेक स्त्रियों के साथ रास करना तथा अनेकों पत्नियों का होना; क्या वर्ण-संकरता नहीं? भले ही ये सारे पात्र अध्यात्मिक हैं तथा एक ही शरीर में घटित होते हैं; तो भी इन्हें इन रूपों में न लेकर अन्य प्रकार से भी ग्रहण किया जा सकता था!

तथाकथित गुरुवों द्वारा (युद्ध में मारे गये अथवा किसी दैवी विपत्ति में नष्ट हो गये व्यक्तियों की बेसहारा स्त्रियों?) आश्रयहीन स्त्रियों को वर्णसंकरता के नाम पर समाज से बहिष्कृत करवा देना----उन्हें वेश्यावृत्ति पर मजबूर करना ---दीन-हीन बनाकर उनसे तथा उनकी सन्तानों से सेवा कराना---विधवा विवाह को घोर पाप बताकर -- विधवाओं को पाप के लिए मजबूर कर लाभ उठाना; आदि-- साधारण प्रथायें बन गईं थीं। इनका घोर विरोध किया श्रीमद्भगवद्गीता एवं उनके अनुयायियों ने। इसीलिये पात्रों एवं कथानक के चयन में भी कटाक्षपूर्ण रवैया ही अपनाया गया।

परन्तु इसका अर्थ यह भी कदापि नहीं लगाना चाहिये कि इस पुस्तक ने किसी प्रकार से भी व्यभिचार को बढ़ावा दिया है। गीता का प्रतिशोध केवल वहीं पर है जहाँ थोथा गुरुवाद का साम्प्रदायिक पाखण्ड है। एक स्त्री, जिसका पति युद्ध में वीरगति को प्राप्त हो गया है, दुबारा किसी की पत्नी बनकर क्यों न जिये? ऐसा करने से उसकी सन्तान वर्णसंकर होगी तथा उसके पूर्व तथा वर्तमान पति के सातों पितर स्वर्ग से गिर कर, नरकगामी हो जावेंगे-- यह तर्क साम्प्रदायिक गुरुओं का-- सशक्त था, उन्हें आश्रयहीन कराने में तथा समाज से बहिष्कृत करवाकर, वेश्यावृत्ति के लिये मजबूर करने में। श्रीमद्भगवद्गीता ने इसी अभिशाप का विरोध किया है। इससे पूर्व मनु ने भी मनुस्मृति में इसका विरोध कर पुनः विवाह कर जीवन बिताने के लिये धर्मसम्मत मत प्रकट किया है। निश्चय ही मनु के सम्मुख भी यह भयावह समस्या रही होगी।

गीता तो दसों इन्द्रियों की लिप्साओं को त्यागने का आदेश करती है। उसने इस कुरीति को समाप्त करने के लिए भी तत्व-दर्शन की दिशा को बदला नहीं। वरन् एक हल्का सा संकेत मात्र देकर अपने तत्व-दर्शन के दिव्य-मार्ग पर बढ़ती चली गई है। उसने समाज की वर्ण व्यवस्था को कर्म के आधार पर ही माना है; जन्म के आधार पर कदापि नहीं। केवल विरोध है, धर्म के नाम पर गढ़े गये अमानवीय, हृदयहीन, अव्यवहारिक तथा पतनोन्मुख सिद्धान्तों से। चारित्रिक पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, चिन्तन की दिशा को अन्तर्मुखी करना, बुद्धि और आत्मा को जानना और योग से अद्वैत करना, चिता -मार्ग से हटाकर आत्मा-हवन-कुण्ड रुपी चिता पर शरीर को यज्ञ करना -- महानतम् दिव्य-दर्शन है, विश्व की एक मात्र पुस्तक, श्रीमद्भगवद्गीता में !

गुरु मन्त्र

वन्दे कृष्णं जगत गुरुम्

गीता के इस तत्व का यह अर्थ भी नही लगाना चाहिये कि यह महान पुस्तक इन्द्रियलोलुप व्यक्तियों को, सामाजिक ढांचे को नष्ट-भ्रष्ट करके, लिप्सा प्रधान, धर्म-विहीन, पतनोन्मुख बनाने की स्वतन्त्रता प्रदान करती है। वरन् बेसहारा, असहाय, पददलित जाति को, धर्म के नाम पर कुचले जाते पापाचारियों से, बचाने के लिए तथा समाज में सम्मानपूर्वक, धर्मपूर्वक जीवन बिताने तथा अन्तर्मार्गी हो अमरत्व दिलाने के लिये हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिये कि इन्द्रियलोलुप और उच्छृंखल वर्ग; समाज के नियमों को लिप्सा मात्र के लिये; नष्ट कर सम्पूर्ण जाति को त्रसित, भयाक्रान्त एवं विनाशोन्मुख कर दे।

गीता तो योग-मार्ग की एक मात्र उपलब्धि है। योग की एक मात्र स्पष्ट व्याख्या है। तथाकथित योग के वर्तमान सिद्धान्तों को गीता नहीं मानती है। घर बैठे योगी बनने का माडर्नवाद गीता की दृष्टि मे विदूषकवाद है। यदि यह मार्ग इतना सरल होता तो वानप्रस्थी रूपी अर्जुन को क्यों सबको मारना (त्यागना) पड़ता। स्वांत: सुखाय, मनभावन सिद्धान्तों वाले धर्म और योग-मार्ग, स्वयं को स्वयं से अन्धाकर, भटकने एवं भटकाने के लिए ही हैं। जिसने वाह्य चिन्तन नहीं त्यागा-- - वह भीतर गया ही कब ? और जो भीतर गया ही नहीं; उसका योग हुआ कब? प्रकृति और आत्मा के प्रतिपादित सिद्धान्तों के विपरीत किसी सरल मार्ग से काल के जबड़े तोड़कर नित्य

सनातन हो जाना ; मुश्किल ही नहीं, सर्वथा असम्भव है। दो सर्वथा विपरीत मार्गों पर एक साथ चलना कठिन ही नहीं मूर्खतापूर्ण और असम्भव है। बहिर्मुखी मार्ग भौतिकता का है। योग मार्ग पर जाने वाले को सर्वथा अन्तर्मुखी होने का सतत प्रयास करना पड़ेगा। जो वाह्य मकान, दुकान, पत्नी, सन्तान आदि मायाओं में लिप्त है, वह तो कोरा भौतिकवादी है। धर्म का ढकोसला मात्र कर रहा है। उसका योग मार्ग पर चलने का दावा नितान्त हास्यास्पद है। जो धन बटोरने में लगा है वह तो बहिर्मुखी है। उसको योगी कहना बुद्धि के दिवालियापन की घोषणा करना है।

भले ही वह कहे कि वह विरक्त भाव से ऐसा कर रहा है ; धन बटोरने में वह लिप्त नहीं है। यह सब स्वयं को दिया गया धोखा है। कारण ? जब भी समस्या आवेगी अथवा भावी आशंका सतावेगी तो उसका उद्धार वह अपने अर्जित धन से करेगा। इस प्रकार भौतिक समस्याओं को बहिर्मुखी हो भौतिकता से ही निवारण करना चाहेगा तो वह अन्तर्मुखी हुआ कहाँ ?

परन्तु इसी स्थान पर यदि वह धनहीन हो, उसके पास समाधान हेतु धन न हो, तब वह क्या करेगा ? मूँद के आँख सीधा मधुसूदन के चरणों में विनती करेगा। उसके पास इसके अतिरिक्त अब कुछ है ही नहीं। अब तो मधुसूधन ही उसका उद्धार कर सकता है। इस प्रकार भौतिक समस्याओं के समाधान हेतु भी वह अन्तर्मुखी होता चला जावेगा। भौतिक मायाओं को बटोरने वाला निश्चय ही बहिर्मुखी है। भौतिकता का सर्वथा त्याग करने वाला ही अन्तर्मार्गी है। तभी तो अर्जुन अन्तर्मुखी होने के लिये पितामह, गुरू तथा सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को गाण्डीव पर रखता है।

भौतिक मायाओं को बटोरने वाला ही पापी है। उसका समाज के धन को एकत्र करना समाज द्रोह है। जो आज भी एक मुट्ठी राख से एक समय का भोजन नही बना सकता ; उसका स्वयं को धनपति कहना, स्वयं में स्वांग और पाखण्ड नहीं तो क्या है ? एक समय के भोजन का भिखमंगा, एक सांस और रक्त की बूंद का भिखमंगा यदि चालाकी से प्रकृति द्वारा उत्पन्न एवं प्रदत्त सम्पदा को, पापपूर्वक, एकत्र कर लेता है; जिससे प्रकृति के अन्य, उसी के जैसे, पुत्र भूखे और विक्षिप्त रह जाते हैं तो उसके जैसा नीच,

पातकी इस धरा पर दूसरा कौन होगा? ऐसा तथाकथित महात्मा स्वयं को योगी कहने लगे और धर्मात्मा स्वांग भरने लगे---तो क्या वह भौतिकवादी स्वयं अपनी आत्मा को अन्धा कर सकेगा ? उसका निर्लिप्तता का थोथावाद उसे कहाँ ले जावेगा?

योग का मार्ग सर्वस्व त्याग का मार्ग है। भौतिकता का मार्ग सब कुछ बटोरने का मार्ग है। परन्तु माया का छल देखो कि सब कुछ त्यागने वाला, स्वयं सृष्टा बन; सबका अधिपति हो जाता है तथा सब कुछ बटोरने वाला, राख के अम्बार में बदल, नाना पापयोनियों में भटकने चल देता है। उसका सर्वनाश हो जाता है।

पुन: अन्तर्मुखी वही है जो शनैः शनैः भौतिक मायाओं को मनसा-वाचा-कर्मणा त्यागता चल रहा है। धीरे-धीरे उसका सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन भी अन्तर्मुखी होता चल रहा है। इस प्रक्रिया में वह मात्र योगमार्ग पर आने का प्रयास कर रहा है। न तो वह योगी है और न ही उसने योगमार्ग पर आकर देखा ही है। इसे प्रत्येक व्यक्ति को अपने मस्तिष्क में स्पष्ट कर लेना चाहिये।

योगरूपी राजपथ पर वह व्यक्ति तभी आवेगा जब मायाओं का महासमर, यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर लड़कर; सबको, सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को मनसा-वाचा-कर्मणा त्यागकर; शिखा-सूत्र (यज्ञोपवीत) को भी त्याग कर; दण्ड-कमण्डल धारण करता सदा-सदा के लिये वानप्रस्थी हो जावेगा। तभी योगमार्गी कहलावेगा। इससे पूर्व सांसारिक व्यक्ति की स्थिति उसी प्रकार है जैसे जंगल के झाड़-झंखाड़ों को पार करता व्यक्ति राजपथ पर पहुंचने का प्रयास कर रहा हो। अभी न तो उसने राजपथ योग का देखा ही है और न उस तक पहुंच ही पाया है। वरन् मायारूपी जंगल के नाना छलावेरूपी झाड़ों में उलझता, गिरता, तन पर खरोंच और चोट खाता भटक रहा है---योग के राजपथ पर आने के लिये। अभी न तो योगी है और न उस मार्ग का दर्शन ही पाया है। योगमार्ग में इस भ्रांतियुक्त विदूषकवाद के जन्मदाता, अज्ञान के मायासागर में भटकते दिशाहीन, ये नाना सम्प्रदाय हैं। श्रीमद्भगवद्गीता ही मात्र दिव्य-ज्योति है---योगमार्ग को स्पष्ट एवं प्रकाशित करने की।

गीता का योगमार्ग स्पष्ट, उज्जवल है। वह नाम-जप-योग, नाद योग, अथवा अन्य किसी प्रकार के योग की बात न कर, यज्ञ की बात करती है। यज्ञ ही के द्वारा नाना वनस्पतियों की सृष्टि है। यज्ञ के द्वारा ही सम्पूर्ण चराचर की सृष्टि है। यज्ञ के द्वारा

ही सम्पूर्ण ग्रहों, नक्षत्रों की सृष्टि है तथा यज्ञों में, मैं (कृष्ण) अधियज्ञ हूँ। इसी (आत्मा) कुण्ड की पवित्र तेजोमयी ज्वालाओं में सर्वस्व को समर्पित कर दे ! क्यों?

क्योंकि तू यज्ञों के द्वारा ही तो भस्मी से वनस्पति में लाया गया। यह शरीर तेरा जब चिता पर भस्मी में बदल गया था---वही भस्मी पानी का संग कर खाद बन गई थी। उसी जल को एवं भस्मी को ग्रहण किया पौधों की जड़ों ने और यज्ञ किय ॐ रूपी आत्माओं ने। सर्वप्रथम ब्रह्मा बन उसे सामग्री रूप स्वीकार किया---तदनन्तर महेश बन प्रलयंकर पशु पताग्नियों (Cosmic fires) द्वारा, क्षीरसागर (Gravity free space) में वृक्ष-पौधों के, यज्ञ किया उस सामग्री रूपी भस्मी का---तो पवित्र ज्वालाओं द्वारा आत्मा यज्ञकुण्ड को---भस्मी सूक्ष्म तेज ब्रह्म में बदल गई। इसी पवित्र तेज को जब आत्मा ने विष्णु सृजक बनकर स्वीकार किया एवं उस पवित्र तेज का पुनर्सृजन किया--तो तेज पुनः यज्ञ के द्वारा--उस पौधे की आवश्यकता एवं सीमाओं के अनुरूप---नाना प्रकार के फलों-फूलों और वनस्पतियों में बदलने लगा। एक ही पानी---एक ही भस्मी ---खट्टा नींबू भी, मीठा अंगूर भी है, कड़वी मिर्च भी है, सफेद गोभी तो काला बैंगन, रंगबिरंगे पुष्प--सब एक ही प्रकार की भस्मी से यज्ञों के द्वारा प्रकट हो रहा है।

उसी वनस्पति से नाना जीवधारियों की सृष्टि भी आत्मा, ॐ रूपी कृष्ण, यज्ञों के द्वारा कर रहे हैं। भोजन के स्वरूप में जब आत्मा कृष्ण को एक दम्पत्ति ने, भोजन सामग्रीवत् अर्पित किया-- अर्थात् प्रातःकाल जो भोजन ग्रहण किया, उसे आत्मा ने ब्रह्मा बन सामग्री रूप स्वीकार किया-- तो दम्पत्ति ने प्रातःकाल आत्मा को ब्रह्मा जान; ब्रह्मस्वरूपा गायत्री का ध्यान किया। दोपहर जब आत्मा कृष्ण प्रलयंकर रुद्र बन उस सामग्री को तेज में परिवर्तित करने लगे-- तो दाम्पत्ति ने आत्मा के अनुरूप दोपहर रुद्रस्वरूपा गायत्री का ध्यान किया। जब कृष्ण प्रलयंकर रुद्र बने तो आत्मभक्तों ने उन्हें रुद्रस्वरूप पूजा। सायंकाल जब आत्मा कृष्ण विष्णु बने और पवित्र यज्ञाग्नि के तेजोमय सूक्ष्म ब्रह्म को सृजन-यज्ञ द्वारा रक्त-मांस-हड्डी में परिवर्तित करने लगे, तो आत्मभक्तों ने विष्णुस्वरूपा गायत्री का ध्यान किया। यही बिन्दु जब जुड़ने लगे गर्भ के क्षीरसागर में तो भस्मीं, जो वनस्पति बनी, --पुनः सुन्दर बालक बन बैठी !

"हे अर्जुन छन्दों में मैं गायत्री छन्द हूँ !"

इस विषय का अधिक विस्तार उसी अध्याय में करेंगे। यहाँ केवल इतना ही बताने का तात्पर्य है कि मैं भस्मी से किस प्रकार तेजोमय यज्ञों के द्वारा निरन्तर उत्थान को

प्राप्त हुआ। प्रकृति और पुरुष किस प्रकार सामीप्य और सानिध्य को प्राप्त हो तेजमार्ग से यज्ञों के, निरन्तर उत्थान को प्राप्त हो रहे हैं। तब आगे भी मेरा उत्थान का मार्ग क्या होगा ?

मनुष्य से देवत्व को प्राप्त होने के लिये मुझे किस मार्ग का अनुसरण करना चाहिये ?

प्रकृति द्वारा प्रशस्त किये गये एवं नित्य अपनाये गये तेजोमय यज्ञ मार्ग द्वारा मेरा उत्थान होगा अथवा नाम-जप-योग द्वारा अथवा नाद-योग द्वारा, अथवा तथाकथित नाना नये-नये मार्गों द्वारा, जिन्हें नाना साम्प्रदायिक गुरु नित्य नये-नये रूप दे रहे हैं ?

इसका समुचित उत्तर श्रीमद्भगवद्गीता ने संशयरहित रूप से दिया है; जिसका पूर्ण विस्तार यथाअध्यायों में करेंगे। यहाँ इतना ही स्पष्ट करना चाहेंगे कि गीता तथाकथित मार्गों को न मानकर, आत्मा और प्रकृति द्वारा दिखाये मार्ग में ही अटूट आस्था रखती है। उसका एकमात्र मार्ग यही है। तेज में वदल--यह भस्मी का अम्बार जीवन्त वनस्पति में उत्थान को प्राप्त हुआ। तेज में यज्ञ द्वारा बदल वनस्पति मनुष्य रूप में उत्थान को प्राप्त हो गई। यही एकमात्र मार्ग प्रकृति सर्वत्र दिखा रही है। तो निश्चय ही तेज में ही बदलकर देवयोनि में मेरा उत्थान होगा। तेज का मार्ग ही सत्य है। योग का लक्ष्य आत्मकुण्ड के संग सम्पूर्ण शरीर का अद्वैत करना है। 'एको कृष्णाः द्वितीयो नास्ति !'

क्या श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् है ?

आदि महर्षियों ने वेद की सीमायें निर्धारित कीं; जिससे वेद के नाम पर ढोंग और व्यर्थ के प्रलाप, कालान्तर में जुड़कर वेद का अंग न बन जावें एवं सम्पूर्ण मानव-जन-जाति को भ्रम और भटकाव में न डाल दें। उपनिषद् तक वेद सीमित कर दिये। इस प्रकार उपनिषद् 'वेदान्त' (वेद+अन्त) हो गये।

चार प्रकार के ग्रन्थ ही वेदान्त की परिधि में समा सके। सर्व प्रथम मन्त्र ग्रन्थ हैं जो सतयुग के प्रतीक रूप हैं। इनमें चारों वेद आते है। अर्थात् ये वेद सतयुग की अमूल्य सौगात हैं, जिन्हें व्यास जी ने योगमार्ग द्वारा पुनः प्रकट किया। द्वापर युग के अन्तिम चरण में यह अमूल्य निधि योगमार्ग से प्रकट हुई।

इसके उपरान्त, द्वितीय स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं जिन्हें त्रेतायुग का प्रतीक रूप माना गया। इनका पुनः प्रकट कलियुग के आरम्भ में सनातन ऋषियों द्वारा योग-मार्ग से हुआ।

तीसरे स्थान पर आरण्यक ग्रन्थ लिये गये जो कि द्वापर युग के प्रतीक माने गये। इन्हें भी कलियुग के आरम्भ में सनातन ऋषियों ने योगमार्ग से पुनः प्रकट किया।

अन्त में उपनिषद् आते हैं जो कि कलियुग की ही देन हैं!

इस प्रकार वेदान्त की परिधि से बाकी सारे ग्रन्थ बाहर रह गये। श्रीरामायण एवं श्रीमद्भगवद्गीता को भी बाहर ही रखा गया। चूँकि ये ग्रन्थ उपनिषद् न होकर शास्त्र और पुराण माने गये इसलिए इन्हें वेदान्त से बाहर कर दिया गया।

इसके साथ ही सम्पूर्ण सनातन ऋषि एकमत से इन महानतम पुस्तकों के वेद-तत्व को स्वीकार भी करते थे। ऋषियों के सम्मुख ये ग्रन्थ समस्या बन गये। ये ग्रन्थ निश्चय ही स्वयं वेद हैं। परन्तु वेदान्त हो जाने से इन्हें वेद की परिधि में लाना भी असम्भव है। तब किस प्रकार वेद की इन अमूल्य निधियों को वेद की सीमा में लाया जा सके—यह एक विकट समस्या बन गयी। न तो ये ग्रन्थ ठुकराये ही जा सकते थे और न वेदान्त की सीमा ही तोड़ी जा सकती थी।

तब सम्पूर्ण ऋषि-मण्डल ने एकमत से निर्णय किया कि इन पुस्तकों को वेदान्त की परिधि से बाहर रखते हुए भी स्वीकार किया जा सकता है—वेद के पुनः अवतरण के रुप में। इस प्रकार श्रीरामायण एवं श्रीमद्भगवद्गीता अवतार रूप में स्वीकार की गयी। वेद की दृष्टि से इनका अंशावतार हुआ। अर्थात् रामायण में कथानक अधिक होने से; वेद के तत्व दर्शन का अधिक स्पष्ट न होने से, इस पुस्तक का बारह अंश अवतार माना गया। इस प्रकार कथानक नायक भगवान् श्रीरामचन्द्र का बारह अंश अवतार हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता चूंकि सम्पूर्ण वेदों, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों का निचोड़ है, इसलिए इसे पूर्णावतार का सम्मान दिया गया। इसके कथानक नायक भगवान् श्रीकृष्ण, पूर्ण सोलह अंश अवतार कहलाये।

इस प्रकार बारह एवं सोलह अंश अवतार वेद-तत्व के स्पष्टीकरण पर हुआ अन्यथा श्रीराम ही श्रीकृष्ण हैं। दोनों ही समान हैं।

"हे अर्जुन ! धनुर्धारियों में मैं राम हूँ !"

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् न होकर पूर्ण वेद तथा पूर्णावतार हैं। "सनातन-दर्शन की पृष्ठभूमि" पुस्तक के सातवें अध्याय में यह तत्व स्पष्ट कर दिया गया है।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

अर्थात् सारे उपनिषद् गौवें मात्र हैं ; श्रीकृष्ण उनके दुहनेवाले ग्वाले हैं। बुद्धिमान अर्जुन भोक्ता बछड़ा है और दुहा गया अमृततुल्य दूध गीतामृत है। इससे भी स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् ही नहीं ; वरन् सम्पूर्ण उपनिषदों का साररूप निचोड़ तथा स्वयं में पूर्ण वेद का अवतार है।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् । (१८/७५)

संजय कहते हैं कि व्यास जी (वेदों के रचयिता) की कृपा से दिव्य दृष्टि (योगमार्ग) द्वारा मैंने इस परम (रहस्ययुक्त) गोपनीय योग को साक्षात् करते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् से सुना है।

इससे स्पष्ट है कि संजय ने सम्पूर्ण ज्ञान दिव्य-मार्ग से वेदव्यास से ग्रहण किया तथा सम्पूर्ण वेदों को श्रीमद्भगवद्गीता में निचोड़ दिया।

उपनिषद् तो वेदों के स्पष्टीकरण हेतु लिखे गये हैं। वेदों के प्रकट ज्ञान को सरल और ग्राह्य करने के लिये चिन्तन द्वारा उपनिषदों को प्रकट किया गया है। जबकि श्रीमद्भगवद्गीता दिव्य-चक्षु अर्थात् योगमार्ग से आत्मा द्वारा लिखाई गई है। इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता पूर्णावतार है सम्पूर्ण वेदों का। उसका यह सम्मान स्वयं सिद्ध है।

चार युगों के प्रतीक रूप, चार आश्रम, सनातन ऋषियों ने प्रत्येक व्यक्ति के लिये बनाये। कल्पवृक्ष उल्टा होने से उनका जीवन पर पड़ने वाला प्रभाव माया के कारण उल्टा प्रतीत होता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम कलियुग का प्रतीक है। गृहस्थ आश्रम द्वापर का प्रतीक है वानप्रस्थ आश्रम त्रेता का प्रतीक है। सन्यास सतयुग का प्रतीक है।

इसी प्रकार वेदान्त की आयु के भी चार भाग किये गये। कलियुग रूप में उपनिषद् उसके अध्यात्मिक जीवन का बाल्यकाल हैं। यह अध्यात्मिक ब्रह्मचर्य आश्रम है। वेद की परिधि में प्रथम प्रवेश होता है। दिव्य ज्ञान की अलौकिक झलक मिलती है।

आरण्यक उसके अध्यात्मिक जीवन का गृहस्थ आश्रम है जो कि द्वापर के प्रतीक हैं। जबकि वह अध्यात्म का मात्र छात्र ही नहीं, वरन् सदस्य बन जाता है। योग का ज्ञान तथा आत्मा का सामीप्य पाने का व्यवहारिक मार्ग अपनाता है।

ब्राह्मण ग्रन्थ उसके जीवन का वानप्रस्थ हैं जबकि अब पुनः अध्यात्मिक ज्ञान से ऊपर उठकर, कर्मकाण्ड के मूल को जान, तपमार्ग की ओर अग्रसर होता है। एकान्त और विरक्ति उसके अध्यात्मिक जीवन में छाने लगती है।

वेद उसके अध्यात्मिक जीवन का सन्यास हैं। जिन्हें वह तप द्वारा योगमार्ग से ही पढ़ता है। दिव्य-ज्योति प्रकट करता है।

और श्रीमद्भगवद्गीता उसका पुनर्जन्म है। इसलिये जिसने श्रीमद्भगवद्गीता के तत्व को पा लिया; उसने एक ही जन्म में— असंख्यों जन्म-जन्मान्तरों के ज्ञान की अनायास प्राप्ति कर ली। जो चल दिया श्रीमद्भगवद्गीता के दिव्य-मार्ग पर—— वह निश्चय ही जन्म जन्मान्तरों के खाई-टीलों को लांघता-फांदता, अमरत्वरूपी दिव्य-हिमालय के शिखर को छू, नित्य सनातन हो गया। स्वयं कृष्ण हो गया।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (२/४६)

हरि ॐ ! नारायण हरि !

श्रीमद्भगवद्गीता

दिव्य दर्शन

द्वितीय अध्याय

देवाधिदेवो !

अमृतमयी सुन्दर सुवासित मधुर श्रीमद्भगवद्गीता रूपी सुरम्य नदी के किनारों को छोड़ती ; हमारी नौका धीरे-धीरे सांख्य की तीव्र रहस्यमयी धाराओं की ओर बढ़ रही है। श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम अध्याय से निकल हम द्वितीय अध्याय में प्रवेश पाते हैं। गोविन्द हरि !

महाप्रभु परम्ब्रह्म महाविष्णु ने प्रत्येक द्वापर युग में एक लीला युद्ध की सृष्टि की। क्यों ?

अर्जुन को भूमि दिलाने के लिये ?

कदापि नहीं। महाविष्णु प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर में कृष्णलीला और त्रेता में रामलीला करते हैं। क्यों ?

प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में हो रहे मायाओं के महासमर-महाभारत को स्पष्ट करने के लिये। जहाँ, रे सखा ! तू पाँच बुद्धियों रूपी पाँच पाण्डव है। संज्ञा रूप पाँच पाण्डवों की उभय पत्नी द्रौपदी है। शरीर रथ है। आत्मा कृष्ण सारथि हैं। यज्ञोपवीत गाण्डीव है। मायाओं का महासमर महाभारत है। लिप्साओं, भटकाव, मोह, राग-द्वेष, घृणा, काम, आसक्ति आदि के प्रतीक कौरव वर्ग हैं। अन्धा काल धृतराष्ट्र है, वर्तमान जिसका सारथि है।

यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव पर सम्पूर्ण मायाओं रूपी कौरवों को मारता (त्यागता) दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ ; बुद्धि और आत्मा के द्वैत को योग मार्ग से अद्वैत करता ; शरीर रूपी सामिग्री को आत्मा हवन-कुण्ड रूपी चिता में यज्ञ करता ; ब्रह्मकपाल को फाड़, ज्योतिमय स्वरूप को धारण करता---तू अमर हो जावे !

यह योग का परम दिव्य, अति गोपनीय मार्ग दिखा रहे हैं––महा विष्णु स्वयं कृष्ण रूप में प्रकट होकर––एक लीला युद्ध में ! गा रे सखा––गोविन्द हरि ! गोपाल हरि !!

अन्धे को आंख लगी है ! दलदल में कमल खिला है। यह मूढ़ अज्ञानी, कुटिल-खल-कामी, योग के द्वार से झांक आज परम् पुण्य, परम् तीर्थ परम् अमृतमयी श्रीमद्-भगवद्गीता के दिव्य रहस्य प्रकट करने चला है। हे नाना देवाधिदेवो ! आपके सम्मान, मान की चाह नहीं है इस भक्त को ! यह युग-युगान्तरों का पापी उद्धार चाहता है। कीजिये जब प्रार्थना श्री हरि के चरणों में––एक प्रार्थना इस सेवक के लिये भी कर दें। आप सब महात्माओं की प्रार्थना से द्रवित होगा कन्हाई मेरा ! आश्रय दीजिये मुझको ! कोटि जन्मों के कोटि-कोटि पाप हैं ! जाने-अनजाने की भयंकर भूलें हैं। मैं बालक हूँ आपका ! भक्त हूँ आपका ! माधव !!

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥

दो रथ दौड़ रहे हैं–प्रतिक्षण–सर्वत्र ! एक रथ है अन्धे काल धृतराष्ट्र का–दौड़ा रहा है वर्तमान रूपी सारथि संजय ! दूसरा रथ है घट-घट वासी–अमर आत्मा रूपी, परमात्मा कन्हाई का ; जिसका महारथी है लक्ष्य–निर्णायक बुद्धि रूपी अर्जुन !

यहां सारे नाम वाद हैं। पितामहवाद भीष्म जिसका शब्दार्थ राक्षस। गुरुवाद द्रोण जिसका शब्दार्थ मुरदाखोर पहाड़ी कौवा आदि। पहले अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं। लीला युद्ध है ! वर्तमान वैवस्वतमनु में ही इक्यावन (५१) बार श्रीराम और श्रीकृष्ण के अवतार हो चुके हैं। यह युद्ध तो प्रत्येक व्यक्ति के भीतर चल रहे अन्तर्द्वन्द का विस्तार है–स्पष्टीकरण है ! उद्धार के मार्ग को स्पष्ट करते हैं। छोटे बालक को पढ़ाया स्कूल में–

क––से कबूतर !

ख––से खरबूजा !

ग––से गोभी !

क्या बालक को कबूतर, खरबूजा और गोभी सिखाया ? अथवा इन रूपकों के माध्यम से क, ख, ग पढ़ाया ?

ठीक उसी प्रकार अध्यात्म के क, ख, ग पढ़ाने के लिए प्रत्येक युग में लीला को महाविष्णु ने –जिससे लुप्त हो गये क, ख, ग लौटा सके –भटक गये सनातन जन समुदाय को। आइये ! मूर्ख बालक की तरह कबूतर, खरबूजा, गोभी को न रट –जाने क, ख, ग, को ! रूपकों के सहारे तत्व को जानें !

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रु पूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

संजय बोले–पूर्वोक्त प्रकार से करूणा करके व्याप्त आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले शोक युक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान मधुसूदन ने यह वचन कहा।

आज उस वानप्रस्थी रूपी अर्जुन को सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन मात्र को नष्ट करना है। सारे स्वजन, गुरूजन, पूज्यवर आदि को प्रतिज्ञा पूर्वक यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव को हाथ में लेकर, यज्ञ कुण्ड के सम्मुख कुरूक्षेत्र में मारना अर्थात् चिन्तन मात्र से भी त्यागना है। जब तक वाह्य चिन्तन मात्र को नष्ट नहीं करेगा–अन्तर्मुखी होगा नहीं। अन्तर्मुखी यदि होगा नहीं तो आत्मा से योग कैसे करेगा ? जब योग ही नहीं–तो मोक्ष कहाँ ? किसकी पूजा ? और कैसी तपस्या ?

इसलिए आत्मा माधव के आदेश पर, पाँच तत्व रूपी पाण्डु शरीर और पांच बुद्धियों रुपी पाण्डवों को ; माया रुपी कौरवों को नष्ट कर–आत्मा हवन-कुण्ड की अग्नियों में स्थापित हो--करके संग कृष्ण का, सदा के लिए कृष्णमय हो जाना है।

अभी अर्जुन के घोड़ों का रंग सफेद है अर्थात् वानप्रस्थी समर्पण का प्रतीक श्वेत वस्त्र धारण किये है। जब 'कुरूक्षेत्र' (जिसका लक्ष्यार्थ पुनः यज्ञभूमि ही है) में सम्पूर्ण मायाओं को परास्त कर देगा; वाह्य चिन्तन मात्र से तथा प्रचलित धार्मिक भ्रान्तियुक्त विचारों से मुक्त हो जावेगा, तब श्वेत वस्त्र तथा गाण्डीव (यज्ञोपवीत) और शिखा का परित्याग कर–यज्ञकुण्ड की ज्वालाओं का प्रतीक गेरूआ वस्त्र धारण कर दण्ड कमण्डल ले–सन्यासी हो शरीर सामिग्री को आत्मा यज्ञकुण्ड में यज्ञ करने चल देगा। यही स्वर्गारोहण है। इसे पहले अध्याय में स्पष्ट किया तथा "सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि" नामक पुस्तक में इसका विशेष विस्तार दिया है। महाप्रभु इन पुस्तकों का अवश्य अवलोकन करें।

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

श्री भगवान ने कहा :- हे अर्जुन ! इस विषम स्थल में यह अज्ञान किस हेतु से प्राप्त हुआ क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों से आचरण किया गया है ; न स्वर्ग को देने वाला है; न कीर्ति को करने वाला है।

रे अर्जुन ! हे लक्ष्य निर्णायक बुद्धि ! आज सबकी तथा अपनी चिताओं को जलाने में तथा सबको मनसा-वाचा-कर्मणा त्यागने में तू विचलित क्यों है ? रे अर्जुन ! आज तो सम्पूर्ण असत्य और भ्रम की चिताओं को जलाकर ; तथाकथित प्रियजनों, मित्रों, प्रेमिकाओं, गुरू तथा पूज्यजनों को मारकर (त्यागकर) तुझे एक आत्मा माधव का सदा-सदा के लिए हो जाना है। इस मधुर मिलन को अमृतमय घड़ी में तू शोकातुर और भ्रमित क्यों हो गया रे ?

स्वाध्याय, आत्म चिन्तन, पुजा कर्मकाण्ड, ध्यान, जप,तप से इस दिव्य मार्ग का सम्मुख पाया तूने—आज अज्ञान से पुनः उसके मार्ग से उपराम होगा रे ? क्या जीवन के एक मात्र लक्ष्य को पाकर— पुनः भय, अज्ञान और भ्रम के कारण विमुख होकर अपकीर्ति तथा स्वर्ग को खोकर पुनः उन्हीं अन्धयोनियों में भटकना चाहेगा ? जाग रे ! लक्ष्य—निर्णायक बुद्धिअर्जुन ! तुझे अन्तरात्मा भगवान मधुसूदन, सम्पूर्ण सृष्टियों के अधिपति, घट-घट वासी माधव स्वयं जगा रहे हैं ! सौभाग्य जगा है ! जिसके दर्शन मात्र से सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं, वही कन्हैया आत्मवत् हो तेरे सम्मुख खड़ा है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! नपुसकता को मत प्राप्त हो यह तेरे में योग्य नहीं है। हे परंतप ! तुच्छ हृदय दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिये खड़ा हो।

जाग रे बुद्धि अर्जुन ! आज तो युद्ध की पुनीत घड़ी है । माधव सारथि हैं तेरे ! नपुंसकता को त्याग रे सखा ! अमर सारथि, सृष्टा माधव, सुदर्शन चक्रधारी परमात्मा तेरे संग हैं। फिर भी भ्रम में भटक रहा है ? जिसके साथ हो त्रैलोकेश्वर उसके हृदय

में क्षुद्र दुर्बलता कैसे ? त्याग इस संशयात्मक बुद्धि को और दे आहुति यज्ञ कुण्ड में प्रतिज्ञा पूर्वक ! मार दे सबको ! त्याग दे सबको !! नथ नाग कालिया ! फिर होकर अद्वैत आत्मा माधव से–तोड़ दे पंजे अन्धे बाज काल के ! कालातीत हो जा रे सखा !

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।। ४ ।।

अर्जुन बोला:–हे मधुसूदन ! मैं रणभूमि में भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के प्रति किस प्रकार बाणों करके युद्ध करूंगा क्योंकि हे अरि सूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं।

अर्जुन–लक्ष्य निर्णायक बुद्धि––जो निष्पाप है––आत्मा माधव के सामीप्य से उज्ज्वल निष्कलंक तथा जो अब आत्मा मात्र का भक्त है; जो किसी प्रकार से भी पाप अथवा भ्रम का आचरण नहीं करना चाहता है तथा संशय रहित होकर ही आगे बढ़ना चाहता है; जो सत्य का आचरण करना चाहता है; आतम प्रतीक––परमात्मा परंब्रह्म भगवान श्री कृष्ण से पूछता है कि हे माधव ! पितामह भीष्म और गुरु द्रोण जैसे परमपूज्य प्रातः स्मरणीय तथा जिनके प्रति लायी गई अनास्था एक महापाप का कारण है और नाना पापयोनियों में भटकाने वाली है; उन्हीं को मैं यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव पर प्रतिज्ञापूर्वक मार दूं अर्थात् उनसे विमुख हो जाऊं ? यह तो महापाप होगा ? क्या धर्म का विलोम भी धर्म हो सकता है ?

यहाँ यह महत्वपूर्ण तत्व दर्शन है। भीष्म का शब्दार्थ है 'भयानक', 'भयानक रस' (विष) तथा 'राक्षस' जैसा कि पहले अध्याय में स्पष्ट कर दिया है। यहाँ भीष्म शब्द पितामह परम्परा का वाद है। इस गीता में राक्षसवाद क्यों कहा गया है ?

इसलिये कि योगमार्गी के लिये पिता, पितामह परम्परा तो सत्य रूप में राक्षसवाद है। क्यों ? क्योंकि योगी तो सबको मारकर भीतर जावेगा ? ऐसी स्थिति में यदि पितामह भक्ति आदि के लिये बहिर्मुखी हो गया तो योग खण्डित हो जावेगा। तब 'एको कृष्णा द्वितीयो नास्ति' का वाद झूठा पड़ जावेगा। पितामह आदि परम्पराओं की भक्ति के कारण अर्न्मूखी न हो पाने से चिता पर भस्मियों में बदल अन्धयोनियों में भटकने चल देगा।

इसी प्रकार वाह्य गुरु परम्परावाद को द्रोण अर्थात् मुरदाखोर पहाड़ी कौवा, बिच्छू, काला बादल आदि शब्दार्थों वाला नाम दिया गया। स्पष्ट है कि अन्तर्मूखी होने जा रहे योगमार्गी अर्जुन का गुरु तो मात्र कृष्ण है जो भीतर है। वाह्य गुरु परम्परा को सम्मान देना, स्वयं को अन्धयोनियों में भटकाना होगा।

यह तत्व दर्शन केवल उन्हीं योगमार्गियों के लिये है जों पूर्ण रूपेण अन्र्मुखी होने जा रहे हैं। जिन्होंने स्वजन, दुर्जन सब कुछ ; यहां तक कि वाह्यचिन्तन मात्र को त्यागने का भीम संकल्प ग्रहण किया हैं।

परन्तु जो अन्य भौतिक कारणों से बहिर्मुखी हैं ; उन्हें ऐसा करना महा-पाप होगा उन्हें पितामह्न परम्परा तथा गुरु परम्परा को ईश्वर से भी अधिक सम्मान देना होगा।

"गुरुः ब्रह्मा गुरुः विष्णु गुरुः देवो महेश्वरः ।
गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरुवे नमः ॥"

इस प्रकार केवल सन्यासी को ही इन परम्पराओं को त्यागने का अधिकार है, अन्य को कदापि नहीं।

अन्धयोनियों से हमारा अभिप्राय उन सभी योनियों से है, जहाँ लौटता जीवन पिछले जन्म का सम्पूर्ण ज्ञान नष्ट कर अज्ञानी होकर पुनः जन्म धारण करता है। इस प्रकार पशु योनियां, कीट, पक्षी आदि योनियां तो अन्धयोनि में आती ही है, मनुष्ययोनि भी अन्धयोनि में आती है। परन्तु ऐसे महापुरुष जो पूर्व जन्मों का आभास रूप सूक्ष्म ज्ञान लेकर मनुष्य अथवा किसी अन्य योनि में प्रकट होते हैं, तो उनकी वे सारी योनियाँ अन्धयोनियां न होकर दिव्य योनियां कहलावेंगी। यही हमारा अभिप्राय है। अन्य विद्वानों ने इसका क्या अर्थ लगाया, उससे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं।

इस प्रकार लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि अर्जुन विपरीत परिस्थितियों में बदलते सत्य रूप धर्म से, तत्व को अबोधता के कारण व्याकुल तथा शोकातुर हो उठता है। उसका संशय बहुत ही सामयिक एवं तत्व स्पष्टीकरण हेत अति महत्वपूर्ण है। जिसका स्पष्टीकरण स्वयं महाप्रभु अगले श्लोकों एवं अध्यायों में करते है।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

महानुभाव गुरुजनों को न मारकर, इस लोक में भिक्षा का अन्न भी भोगना कल्याणकारक समझता हूँ क्योंकि गुरूजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुये अर्थ काम रूप भोगों को ही तो भोगूँगा।

बदलती परस्थितियों के बदलते तत्वरूप सत्यधम के रहस्य को न जानता हुआ; बुद्धि अर्जुन पूछता है कि गुरू तथा पितृ उपेक्षा के भार से लदा मैं आप से पूछता हूँ कि ऐसे पापमय अमरत्व का भी क्या लाभ ? इससे तो उत्तम यही होगा कि मैं इस युद्ध को न कर भिक्षा का अन्न ग्रहण करता हुआ, जीवन को समाप्त कर दूं।

यहाँ अर्जुन युद्ध न कर भिक्षा का अन्न भोगने की बात करता है। क्या एक योद्धा युद्ध न करेगा तो अन्य प्रकार से जीवनयापन नहीं कर सकता ? उसे भिक्षा जैसा क्षुद्र मार्ग ही क्यों अपनाना पड़ेगा ?

इसलिये कि अतिरिक्त मधुसूदन माधव के शेष सम्पूर्ण जगत् तो भिक्षुक मात्र है। राष्ट्रपति अमेरिका का हो अथवा प्रधान मन्त्री रूसी अथवा भारत का—कोई भी तो एक बोरा राख से एक दाना गेहूँ नहीं बना सकते। आत्मा माधव ही वृक्षों के क्षीरसागर में यज्ञों के द्वारा उन्हीं भस्मियों को नाना प्रकार की वनस्पतियों में तथा उन्हीं वनस्पतियों को नाना प्रकार के जीवधारियों में यज्ञ कर रक्त—मांस आदि में बदल नित्य नये जीवधारियों की सृष्टि कर रहा है। इस प्रकार अतिरिक्त माधव के सम्पूर्ण जगत् ही भिक्षुक है। माया के भ्रम के कारण अज्ञान से राजा, मन्त्री, भृत्य से भासते हैं। उनकी स्थिति ठीक उसी प्रकार की है जैसे शतरंज को फड़ पर खड़े—एक ही लकड़ी के राजा, वजीर, हाथी, घोड़े, ऊँट, पैदल। सबकी नियत गति है परन्तु चलेगा तभी जब खिलाड़ी चलायेगा। ठीक इसी प्रकार माया के भ्रम के कारण भिखमंगे दाना—दाना गेहूँ के; बूँद—बूंद रक्त के; एक-एक सांस के—राजा - रंक, सेठ, गरीब का नाटक करने लगते हैं और अज्ञान के कारण ऐसे प्रतीक होते हैं। अन्यथा सत्य रूप शतरंज को फड़ पर खड़े एक लकड़ी हाड़—मांस) के मुहरे ही तो हैं—नितान्त पराश्रित !

कौन भिक्षुक नहीं है ?

जो मायाओं का महासमर जीत——अमर आत्मा से अद्वैत कर——यज्ञ तथा परंब्रह्म के रहस्यों को जान ——अमरत्व को धारण कर स्वयं सृष्टा हो गया।

यहां लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि अर्जुन का इशारा इसी ओर है। युद्ध अर्थात् अन्तर्मुखी हो योग द्वारा ब्रह्मर्षि के महान् पद की प्राप्ति हेतु——सम्पूर्ण वाह्य स्वजनों आदि की हत्या

(मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग) न कर —अन्य मनुष्यों की भांति निहत्था हो चिता पर भस्मियों में बदल—अन्धयोनियों को चल दूं तो इसमें क्या दोष है ?

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिता प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥३॥

यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या श्रेष्ठ है अथवा हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। जिनको मार कर जीना भी नहीं चाहते वे ही कौरव हमारे सामने खड़े हैं।

आह ! हे माधव ! हे मधुसूदन ! हे त्रैलोकेश्वर !! आज कैसी वीभत्स यह लीला है। सारे विपरीत ही सत्य के—भयावह सत्य के रूप में प्रकट हो रहे हैं। हे गोविन्द ! हे गोविन्द !! नहीं जान पा रहा हूँ कि क्या करना उचित है।

सत्य पुकारता है कि रे बुद्धि ! भीतर पाण्डव ; बाहर कौरव ! सर्वत्र ! सर्वत्र !! सारे नाते झूठे ! सारे रिश्ते मिथ्या !! एको कृष्णा द्वितीयो नास्ति' ! सम्पूर्ण मिथ्या जगत को त्याग दे ! सम्पूर्ण को त्याग के पैने बाणों द्वारा यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर मार दे ! त्याग दे—सम्पूर्ण मिथ्या जगत को——एक सत्य अमर आत्मा को ग्रहण कर !

यहां न कोई पुत्र है, न पत्नी ; न माता-पिता, न बन्धु-बान्धव, पितामह कोई—-गुरु, पूज्य न कोई ! सब खेल माया का है। भ्रम मात्र सब भासता है। अज्ञान के अन्धकार में फँसा तू अपनी ही परछाईयों से लिपटता फिरता है। अपनी ही अन्धकारमयी परछाईयों द्वारा छला जाकर ———पुनः पुनः अन्धयोनियों को प्राप्त होता है।

पहचान उस आत्मा माधव को ! उस सहस्त्र सूर्यों रूपी आत्म-कुण्ड कन्हाई को ! जो जगमग भीतर है—जिसके अन्तर को प्रकाशित करने से बाहर फैल रही तेरे ही तन की भ्रमात्मक परछाईयां हैं ! परछाईयों को त्याग ! सत्य रूपी प्रकाश से अद्वैत कर !

माधव ! यह सत्य है। जग मिथ्या है। भले ही सत्य हो। भले ही ध्रुव सत्य हो ! परन्तु सोचो ! उस प्रेममयी पत्नी का समर्पण ! प्यारे बेटे की भोली मधुर मुस्कान ! राखी के तागों के पवित्र मूक गीत ! सखाओं के निर्मल सामीप्य की मधुर स्मृतियां ! धड़कते हृदयों के प्रथम मिलन ! सब कुछ आज कौरव बन गया है। सब कुछ मनसा-

वाचा-कर्मणा मारना (त्यागना) है मुझे ! सबको मिथ्या घोषित करना है मुझे ! हे गोविन्द ! इन सबको मारकर फिर जीना भी कौन चाहेगा ?

कहते हो इन सबको मार दूं ? ठीक है। ऐसा करने के बाद भी मोक्ष मिलेगा ? यह महासमर जीता जा सकेगा ? सम्भव है बीच महासमर में ही धराशायी कर दिया जाऊँ। लक्ष्य से पूर्व ही परिस्थितियां संहार दें मुझे ।

नहीं जान पा रहा हूँ माधव ! गोविन्द ! ! अन्धकार और प्रकाश के खेल से चका-चौंध हो गया है ! कुछ दिखाई नहीं देता है ! बदलते सत्य से कुछ भी तो सुझाई नहीं देता है ! गोविन्द ! गोविन्द ! !

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेतः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

कायरता रूप दोष करके उपहत हुए स्वभाव वाला, धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो निश्चय किया हुआ कल्याण कारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये । मैं आपका शिष्य आपके शरण हूँ । मेरे को शिक्षा दीजिये ।

हे गोविन्द ! हे माधव ! हे हरि ! ! मैं धर्म के विषय में भ्रमित हो गया हूँ । दो विपरीत दिशाओं के छलावे में फंसकर दिशा ज्ञान को खो बैठा हूँ । एक ओर सम्पूर्ण वाह्य जगत है जिससे जुड़े मेरे अतीत के क्षण-क्षण हैं । स्मृतियों के तागों से रोम-रोम सिला है मेरा ! मधुर स्मृतियों की मधुर घन्टियां अब भी भ्रमाये दे रही हैं मुझको ! तो कहीं प्रतिशोध की रस्सी बांधे हैं मुझे । कहीं कर्म के जाल फंसाये हैं मुझको । हे माधव ! जानकर भी नहीं जान पा रहा हूँ । पहचान कर भी नहीं पहजान पा रहा हूँ। अथवा जानकर, खूब अच्छी तरह पहचान कर भी लिप्साओं द्वारा अन्धा एवं भ्रमित किया मैं स्वयं को झुठला रहा हूँ । हा नाथ ! इस परीक्षा की घड़ी में, जीवन रूपी मार्ग के इस चौराहे पर मैं स्वयं को कायर पा रहा हूँ । मैं शिष्य हूँ आपका । मैं शरण हूँ आपकी ! मेरे को शिक्षा दीजिये । मेरा मार्ग दर्शन कीजिये । आप ही सर्वस्व हैं मेरे। आपका भक्त हूँ मैं ।

हे नाथ ! जो संशयरहित, पापरहित, ज्योतिर्मय सत्य धर्म का मार्ग हो तथा जिसमें मेरा कल्याण हो मुझे बतावें । मैं आपको सर्वस्व समर्पित हूँ । मै एकमात्र आपकी ही शरण हूँ । मेरे अज्ञान को दूर करें ।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक धनधान्य सम्पन्न राज्य को और देवत ओं के स्वामीपने को प्राप्त होकर भी उस उपाय का नहीं देखता जो मेरो इन्द्रियों को सुखाने वाले इस शोक को दूर कर सके ।

हे माधव ! मोक्ष को प्राप्त होकर देवताओं के स्वामीपने को भी प्राप्त हो गया तो क्या ? भूमण्डलों का अधिपति भी होने से क्या प्रयोजन ? सबका हत्यारा बनकर अमरत्व को धारण भो कर गया तो क्या इन हत्याओं के पाप से मुक्त हो सकूँगा ? मैं नहीं जान पाता हूँ ।अमरत्व को धारण करने हेतु सम्पूर्ण जगत से उपराम होना; भौतिक कर्म एवं कर्त्तव्य तथा जिम्मेदारी से भागना---क्या उचित होगा ? अहो ! कुछ भी समझ नहीं पाता हूँ । सत्य के विलोम भी सत्य से जान पड़ते हैं । सत्य को सत्यरूप जान पाने में भी समर्थ नहीं हो पा रहा हूँ मैं । विचित्र परिस्थिति है ।

युद्ध करू अथवा युद्ध से उपराम हो जाऊं? भौतिक बहिर्मुखी जीवन को धारण करता चिता पर अन्य भौतिक राजाओं की तरह भस्मियों में बदल योनि-योनि भटकने चल दूँ---अथवा बहिर्मुखी चिन्तम मात्र को मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग; आतमा से योग करता-तपस्या द्वारा शरीर सामिग्री को आत्म-कुण्ड में यज्ञ करता---ब्रह्म कपाल को फाड़---ज्योतिर्मय हो ---ब्रह्मर्षि के अमर पद को प्राप्त हो जाऊँ ।

हे माधव ! नहीं जानता हूँ जो उचित हो उसी का उपदेश करें । हरि ॐ ! नारायण हरि !

इस प्रकार हे महामानवो ! लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि अर्जुन ने योग मार्ग में आने वाले मूल संशयों को आतम स्वरूप परमात्मा श्रीकृष्ण के सम्मुख प्रकट किया ।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप

न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।। ९ ।।

संजय ने कहा—हे राजन् ! निद्रा को जीतने वाला अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज के प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्री गोविन्द भगवान को युद्ध नहीं करूँगा ऐसे स्पष्ट कहकर चुप हो गया।

हे श्रेष्ठ भक्तगण ! हमारी नाव अब नदी के किनारों से निकल सांख्य की तीखी धाराओं में प्रवेश पाने को आतुर है । भूमिका रूपी किनारों का संग छूट चला है। सावधान होकर बैठने की स्थिति है। मुनियों में श्रेष्ठ महामुनि कपिल के सांख्ययोग पर महाप्रभु मधुसूदन माधव, सृष्टा पुरुषोत्तम स्वयं अपने विचार प्रकट करगें। सजग होकर ध्यानपूर्वक एकाग्र हो सुनने पर ही सम्भव हो सकेगा।

बुद्धियों में श्रेष्ठ बुद्धि अर्जुन भी इस दिव्य मार्ग में भ्रमित सा हो गया है तो सर्व-साधारण को धैर्य, सावधानी और एकाग्रता परमावश्यक है। जप, तप, ज्ञान, ध्यान और तपस्या द्वारा आत्म साक्षात्कार को प्राप्त होने वाला लक्ष्य–निर्णायिक–बुद्धि अर्जुन भी संशयों का निवारण चाहता है तो हे भक्त प्रेमियों ! ध्यान पूर्वक संशयरहित हो एकाग्र भाव से सुने।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ।।१०।।

हे भरत वंशी धृतराष्ट्र ! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोक युक्त अर्जुन को हंसते हुए से यह वचन कहा।

इसी के साथ आत्म गंगारूपी नदी की उत्ताल सांख्य लहरों में आरुढ़ हो गई नौका हमारी है। सत्य और असत्य ; तम और ज्योति ; भौतिकता और अध्यात्म के मध्य में खड़े मोहक मोहन ने सहज भाव में मुस्कराते हुए यह दिव्य ज्ञान भ्रमजाल में फँस गये अर्जुन को दिया। भाग्यवान होगा—जो इस तत्व को पालेगा। अमर होगा—जो चल देगा इस दिव्य मार्ग पर।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

श्री भगवान बोले–तू न शोक करने योग्यों के लिये शोक करता है और पंडितों के से वचनों को कहता है परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिए शोक नहीं करते हैं ।

सुन रे अर्जुन ! आत्मा माधव के अनन्य सखा, सम्पूर्ण भूतप्राणियों में वास करने वाले लक्ष्य–निर्णायक–बुद्धि–निद्राजयी अर्जुन सुन ! माधव मधुसूदन केशव कन्हैया आज तेरे भ्रम का निवारण करते हैं ।

तू न शोक करने वाले योग्यों के लिए शोक करता है । कैसे ? जिन्हें तू माता-पिता कहता है क्या वे तेरे माता-पिता हैं ?

एक हलवाई ने लड्डू बनाये । दस पात्रों (बर्तनों) का प्रयोग किया । बता किस पात्र (बर्तन) ने लड्डू बनाये ? स्पष्ट उत्तर एक है कि पात्र तो यन्त्र मात्र है । लड्डू बनाने वाला तो हलवाई है ।

मैं आत्मा हलवाई ही तो तुझे भस्मियों से वनस्पतियों में ; नाना वृक्ष पौधे रूपी बर्तनों में, यज्ञ करके लाता हूँ तथा मैं आत्मा हलवाई ही तो स्त्री-पुरुष रूपी बर्तनों में यज्ञ कर उन वनस्पतियों को बालक रुप देता हूँ । माता-पिता तो बर्तन मात्र हैं । एक बूंद रक्त की नहीं बना सकते । सृष्टा हलवाई तो मात्र मैं आत्मा हूँ । इस प्रकार तेरा माता-पिता, स्वामी-सखा तो मैं हूँ ; न कि पात्र मात्र–माया की परछाइयाँ । जब वे केवल बर्तन मात्र हैं ; तो तू उनके लिए शोक क्यों करता है । यह तो असत्य का आचरण है । भ्रम का संगी बनना है । स्वयं को स्वयं से अभिशप्त करना है । भ्रम का संग त्याग रे सखा ! आत्म संगी हो जा ।

बर्तनों के रिश्तों में तत्व कहाँ ? सत्य कहाँ ? पंडितजन इन रिश्तों में नहीं फँसा करते हैं । जिनके प्राण गये हैं अथवा जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिए शोक नहीं करते हैं । वे सदा इस माया के भ्रम जाल से विरक्त रहते हैं । एक सत्य आत्मा का ही चिन्तन-पूजन, पठन-पाठन करते हैं । आत्म प्रतीक मुझ कन्हैया के प्रति ही अपनी निष्ठा, भक्ति, श्रद्धा, ध्यान, योग के जीवन के क्षणों को अमरत्व में ढालते हैं ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था, यह राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेगें ।

हे सम्पूर्ण मनुष्य जातियों में वास करने वाले लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि अर्जुन सुन ! सम्पूर्ण भूत प्राणियों में वास करने वाले आत्म - प्रतीक मधुसूदन माधव तत्व को स्पष्ट करते हैं ।

न तो ऐसा ही है कि ये राजा लोग अर्थात् शरीर नहीं थे और न ऐसा ही कि मैं अर्थात् इन शरीरों में आत्मायें नहीं थीं तथा न ऐसा ही है कि तुम नहीं थे अर्थात् इन शरीरों में लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि नहीं थी । यह खेल तो नित्य हैं ।

पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम् !

यह कहानी पुनः-पुनः जन्म की है ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

जैसे शरीरधारी पुरूष की इस देह में कुमार, युवा और वृद्धावस्था होती है वैसे ही दूसरे शरोर की प्राप्ति होती है । उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता है ।

चिता जली । शरीर भस्मी में बदल गया । भस्मी ने पानी का संग किया । खाद बन गई । खींचा इस भस्मी जल को वृक्ष-पौधों की जड़ों ने । यज्ञ किये पेड़ों के क्षीरसागर मे आत्माओं ने ! भस्मी पुनः सुन्दर वनस्पतियों में बदल चली । भोजन स्वरूप ग्रहण किया दम्पत्ति ने । यज्ञ किये शरीर के क्षोरसागर में आत्माओं ने । भस्मी रक्त-मांस के कणों में बदल चली । क्षीरसागर में गर्भ के, जुड़े जब यह रक्त-बिन्दु---- भस्मी लौट पुनः बालक बन गई । बालक—युवक—वृद्ध और भस्मी---पुनः वनस्पति---रक्त-मांस —पुनः बालक । यही है कहानी आपकी सुना रहे हैं माधव आपको । जानो रे भक्तों ! जानो कि यह भौतिक शरीर भी मरता नहीं है वरन् यज्ञों द्वारा अपने कर्म-फल-भोग के अनुसार नाना रूप धारण करता है ।

इसलिये धीर पुरुष इस जन्म-मृत्यु रूपी निरन्तर खेलों में मोहित नहीं होता है तत्व ज्ञानी समभाव से विरक्त हुआ, मुझ आत्मा अमर का ही चिन्तन करता है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

हे कुन्ती ! पुत्र सर्दी-गर्मी और सुख-दुख को देने वाले विषयों के संयोग तो क्षण भंगुर और अनित्य हैं, हे भरतवंशी ! उनको सहन कर।

हे महाबुद्धे ! सुख-दुख और सर्दी-गर्मी तो स्पर्श मात्र हैं; अनित्य एवं क्षणभंगुर हैं इनमें मोहित न होकर तू लक्ष्य का निर्धारण कर शोक संतप्त मत हो। तेरा शोकाकुल होना व्यर्थ है ! भ्रम मात्र है। इनको सहन कर और यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर त्याग के पैने बाणों द्वारा सबको मार दे अर्थात् त्याग दे।

क्योकि जिनको त्यागने में तू हिचकिचा रहा है वे स्वयं अनित्य हैं। क्षणभंगुर हैं उनके लिए तेरा युद्ध उपराम होना अर्थात् योगभ्रष्ट हो जाना सर्वथा अनुचित है। इसलिए हे तपस्वी ! योगारूढ़ हो। दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ--अतर्मुखी हो मुझ अमर से अद्वैत कर।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

क्योंकि हे पुरुष श्रेष्ठ ! सुख-दुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को यह (इन्द्रियों के विषय) व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्ष के लिये योग्य होता है।

हे दिव्य बुद्धे ! सुख-दुख, जन्म-मृत्यु, हर्ष-शोक, अपना-पराया में जो समभाव रखता; इन्द्रियों के विषय में जो मोहित नहीं होता है; वही धीर पुरूष मोक्ष अर्थात् अक्षय पद का अधिकारी होता है।

इस प्रकार घट-घट में वास करने वाले आत्म प्रतीक परमात्मा भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को शरीर के अनित्य स्वरूप पर उपदेश दिया। अब आगे माधव गोविन्द बांके विहारी इस शरीर रूपी मन्दिर में वास करने वाले अमर आत्म तत्व के गूढ़ विषयों का अनावरण करेगें। आइये चलें मन्दिर से मूर्ति को ओर ! मरणशील से अमर की ओर ! भ्रम से सत्य की ओर ! गोविन्द हरि ! गोविन्द हरि !!

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः ॥१६॥

असत् का तो अस्तित्व नहीं है और सत् का अभाव नहीं है। इन दोनों का ही तत्व, ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।

असत् अर्थात् अनित्य शरीर का तो अस्तित्व नहीं है और सत् अर्थात् नित्य स्वरूप आत्मा का अभाव नहीं है। इन दोनों का सत्य स्वरूप तत्व ज्ञानियों द्वारा देखा गया है

असत् अर्थात् अनित्य शरीर का तो अस्तित्व नहीं है और सत् अर्थात् नित्य स्वरूप आत्मा का अभाव नहीं है । इन दोनों का सत्य स्वरूप तत्व ज्ञानियों द्वारा देखा गया है। तत्वज्ञानी जानते हैं कि मरणशील शरीर क्षणभंगुर है । इनके स्वरूप क्षण–क्षण बदलते रहते हैं। भस्मी पुनः वनस्पति–पुनः बालक–––पुनः भस्मी ! इस प्रकार इनके अस्तित्व अनित्य होने से अस्तित्वहीन कहलाते हैं। परन्तु इन शरीर रूपी मन्दिरों में वास करने वाला आत्मा रूपी मूर्ति तो नित्य है, अजन्मा है। शरीर के नाश होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता है । इस प्रकार दोनों प्रकार का असत् एवं सत् तत्त्ज्ञानियों द्वारा देखा गया है। असत् का स्पष्टीकरण महाप्रभु पूर्व के श्लोकों में दिये हैं । अब सत् अर्थात् नित्य स्वरूप आत्मा का तत्त्व मोहक मधुसूदन अपने श्रीमुख से प्रकट कर रहे हैं ।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

नाशरहित तो उसको जान जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है । इस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है ।

नाशरहित अर्थात् जिसका कोई अन्त नहीं है, ऐसे अमर तत्व से व्याप्त जो सम्पूर्ण जगत है, उसका कोई भी विनाश नहीं कर सकता । यहां तक कि परमेश्वर भी उसका नाश नहीं कर सकते । वह अविनाशी स्वयं अपना भी नाश नहीं कर सकता ।

ऐसा अविनाशी तत्व कौन है जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है–––ब्रह्म ।

ब्रह्म का स्वरूप अमर है ; नित्य है तथा उसी के द्वारा निर्मित सम्पूर्ण चराचर है । किस प्रकार यह अमर तत्व शरीर में वास करता है तथा किस प्रकार शरीर के नाश होने पर यह नाश को प्राप्त नहीं होता है ? तथा आत्मा का स्वरूप क्या है ? स्थूल उदाहरण देकर समझाते हैं ।

एक हलवाई ने चीनी के खिलौने बनाये । एक ही प्रकार की चीनी से घोल बनाकर घोड़ा, हाथी, शेर, मनुष्य, बकरी, हिमालय, आकाश आदि बना दिये । अब यदि चीनी के कण के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अविभाज्य तत्व को मैं 'ब्रह्म' कहूँ तो सम्पूर्ण खिलौनों में वही तत्व व्याप्त होनेसे सर्वत्र 'ब्रह्म' हुआ । अब उन्हीं खिलौनों को यदि मैं डन्डा लेकर पीट-पीट कर चूरा कर दूँ–––तो आप क्या कहेंगे ? हाथी, घोड़ा, शेर, बकरी सब समाप्त हो गये । ठीक ! परन्तु एक बात तो स्पष्ट है कि घोड़ा बकरी जब नाश को प्राप्त हुये तो पुनः चीनी के सूक्ष्म कणों में बदल गये । सूक्ष्म कणों का तो नाश नहीं हुआ ? सूक्ष्म कण तो अविभाज्य होने से अमर हैं । यही स्थिति ब्रह्म की है जो शरीर के अस्तित्व के नाश होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता है । जो पुनः सृजन द्वारा नूतन नाना स्वरूप धारण कर लेता है तथा जिससे निर्मित सम्पूर्ण चराचर है, ऐसा सर्वव्यापी अमर तत्व ब्रह्म है ।

तब आत्मा क्या है ?

इन सूक्ष्म कणों को नाना स्वरूप देने वाला तथा पुनः इनके स्वरूप को कणों में विभाजित करने वाला जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व है सो आत्मा है । उसे ही परंब्रह्म कहा है । उसे ही ॐ कहा है ।

ॐ

अ + उ + म् = ॐ (परंब्रह्म)
अस्तित्व उत्पत्ति मृत्यु
धारक सृजक संहारक
ब्रह्मा विष्णु महेश
श्रीराम (परंब्रह्म)
श्रीकृष्ण (परंब्रह्म)
G O D
जनरेटर आपरेटर डिस्ट्रायर
धारक सृजक संहारक
GOD (परंब्रह्म)
अल्लाह (परंब्रह्म)
अलिफ लाम हे
धारक सृजक संहारक

इस प्रकार 'परब्रह्म' के तथा 'ब्रह्म' के स्वरूप को स्पष्ट किया। (इसको पुनः यथा अध्यायों में स्पष्ट करेंगे। भक्तगण "सनातन दर्शन की पृष्ठ भूमि" का अवश्य अवलोकन करें।)

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

नाशरहित अप्रमेय नित्य स्वरुप आत्मा के यह सब शरीर नाशवान कहे गये हैं इस लिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ।

नाशरहित अर्थात् जिसका नाश नहीं होता है; जो कभी भी क्षीणता को प्राप्त नहीं है, नित्य स्वरूप अर्थात् जो अमर है तथा जिसका स्वरूप नित्य है एवं अप्रमेय अर्थात् जो उपमाओं आदि से परे स्वयं सिद्ध है, ऐसे घट-घट वासी आत्मा के शरीर नाशवान कहे गये हैं। इसलिये तू शरीरों के मोह को त्याग। ये शरीर जो माया के भ्रम मात्र हैं, अनित्य हैं। इनके लिए परम् सिद्धि के, मोक्षमार्ग से विमुख मत हो । असत के लिये सत् परित्याग न कर। युद्ध कर।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है वे दोनों ही नहीं जानते हैं (क्योंकि) यह आत्मा न मरता है न मारा जाता है।

हे अर्जुन ! जो यह सोंचता है कि आत्मा मारा जाता है अथवा आत्मा मारता है वे दोनों ही भ्रमित हैं। यह आत्मा न मरता है न मारा जाता है। तब तेरा शोक करना तो नितान्त भ्रान्ति है। जिन्हें तू सोचता है कि तू मार (त्याग) रहा है तथा ये तुझे मार रहे हैं, माया का भ्रम मात्र है। यहां न कोई मर रहा है न कोई मार रहा है। यह सब तो माया का भ्रम है। एक नाटक मात्र है।

सोच रे पवित्र बुद्धे ! यह सब नाटक नहीं है तो क्या है ? प्रकृति और पुरुष ने प्रणय-लीला की और सम्भोग-लीला द्वारा सम्पूर्ण चराचर की सृष्टि कर रहे हैं। शेष सम्पूर्ण भूतप्राणी तो उस लीला का नाटक मात्र कर रहे हैं।

कोई भी मनुष्य एक बोरा भस्मी से एक दाना गेहूँ नहीं बना सका। आत्मा और प्रकृति ने ही प्रणय यज्ञों द्वारा भस्मियों को नाना प्रकार की वनस्पतियों में पुनर्जन्म दिया।

इस प्रकार मनुष्यों ने तो गेहूँ आदि उपजाने का नाटक किया। उन्हें गेहूँ में उत्पन्न तो आत्मा और प्रकृति ने लीला द्वारा ही किया। ठीक इसी प्रकार कोई भी पुरुष एक थाल भर भोजन से बूँद रक्त की नहीं बना सका। उसने केवल भोजन से रक्त को बनाने का नाटक किया परन्तु रक्त और बालक तो आत्मा और प्रकृति ने लीला द्वारा ही बनाये।

अर्जुन ! यह सब तो नाटक मात्र है। स्वप्न की नाईं है। जैसे नाटक करते रंगमंच के पात्र—वे लड़ते हैं, मरते एवं मारते हैं; परन्तु दूसरे दिन पुनः वही पात्र पुनः उसी नाटक को दर्शकों को दिखाते हैं। बारम्बार मारते एवं मरते हैं। वस्तुतः वे न मारते हैं और न ही मरते हैं—केवल मरने-मारने का नाटक करते हैं।

ऐसा ही यह खेल प्रकृति-पुरुष की लीला का है जो कृष्ण-लीला है। तुम तो उस लीला का नाटक कर रहे पात्र मात्र हो; तब तुम किसे मारते हो और कौन मरता है ?

इसलिए हे सखा ! सम्पूर्ण मनुज जातियों में वास करने वाले लक्ष्य-निर्णायिक-बुद्धि अर्जुन ! खड़ा हो और युद्ध कर। यज्ञोपवीत का पवित्र धनुष, त्याग के तपे हुए वाण और ढेर हो जाये——सम्पूर्ण बहिर्मुखी चिन्तन। अद्वैत हो जाये—प्रकृति और पुरुष का सदा-सदा के लिए। अमर हो जाये तू।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है अथवा यह आत्मा हो करके फिर होने वाला है (क्योंकि) यह अजन्मा, नित्य शाश्वत और पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता है।

हे अर्जुन ! यह आत्मा तो अमर, अजन्मा तथा सनातन है। शरीर के नाश होने पर भी नाश को प्राप्त नहीं होता है। नूतन शरीर में भी इसका जन्म नहीं होता है वरन् आत्मा अवतरित हो, उस शरीर रथ का नियन्त्रण लेता है। इसलिए उस अमर को मार सकने में तू अथवा कोई भी समर्थ नहीं है। इसलिए हे परंतप ! युद्ध कर।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरूष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा, अव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ।

अहो ! यह आत्मा तो नाशरहित है, किसी भी अवस्था में इसका नाश नहीं होता है । नित्य है, यह कभी अस्तित्व को नही खोता है । अजन्मा है अर्थात् कभी जन्मता नहीं है । सदा अवतरित होने से अवतार है तथा अव्यय है अर्थात् जिसको व्यय नहीं किया जा सकता । ऐसा नही है कि किसी काल में भी उसकी शक्ति को खर्च कर घटाया जा सके अथवा रोगादिक के कारण उसकी शक्ति क्षीण हो जावे ।

हे सत्यनिष्ठ बुद्धे ! जो पुरुष इस सत्य को जानता है, सो कैसे किसको मारता है अथवा मरवाता है ।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि वानि नदेही ॥२२॥

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

इसको शस्त्रादिक नही काट सकते हैं । इसको आग नहीं जला सकती है । इसको जल नहीं गीला कर सकता है और वायु नहीं सुखा सकता है ।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

यह आत्मा अच्छेद्य है । यह आत्मा अदाह्य और अशोष्य है । यह आत्मा निःसन्देह नित्य सर्वव्यापक अचल स्थिर रहने वाला और सनातन है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा अव्यक्त (इन्द्रियों से परे) अचिन्त्य (मन से परे) यह आत्मा विकार रहित (अर्थात् न बदलने वाला) कहा जाता है। इससे ऐसा जानकर तू शोक करने के योग्य नहीं अर्थात् तेरा शोकातुर होना अनुचित है।

अहो ! सनातन आत्मा इन्द्रियों तथा मन का अविषय क्यों है ? इसको स्पष्ट करने के लिये तत्व की गंगा रूपी पारिजात युद्ध की कथा संक्षेप में सुनाते हैं।

त्रैलोकेश्वर महाविष्णु, शंकर तथा परंब्रह्म के पूर्णावतार मोहक श्रीकृष्ण भगवान और देवलोक के अधिपति देवराज इन्द्र में पारिजात नामक वृक्ष को लेकर भयंकर युद्ध छिड़ गया।

संक्षेप में कथा इस प्रकार है कि एक बार लोक-लोकान्तरों में विचरण करते देवर्षि नारद जी को क्षीरसागर में बहता एक पुष्प पारिजात का मिल गया। नारद जी भगवान मधुसूदन माधव के दर्शन हेतु जा रहे थे। वह पुष्प उन्होंने माधव को अर्पित किया। मधुसूदन ने वह पुष्प रुक्मिणी देवी को दिया। उस दिव्य पुष्प को शरीर पर धारण करने से उनका सौन्दर्य सहस्र गुणा प्रदीप्त हो उठा। सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। सत्यभामा को यह सहन नहीं हुआ। उन्होंने श्रीकृष्ण से हठ ठान लिया कि मुझे तो पूरा पारिजात वृक्ष लाकर दो। श्रीकृष्ण भगवान ने बहुत मनाया परन्तु सत्यभामा नहीं मानीं। महाप्रभु ने देवर्षि नारद को इन्द्र के पास सन्देश देकर भेजा कि पारिजात वृक्ष हमको भेज दो।

देवर्षि जब सन्देश को लेकर इन्द्र के दरबार में गये तो देवेन्द्र ने उनकी स्वागत-स्तुति कर उचित आसन दिया उपरान्त आने का कारण पूछा। देवर्षि ने पारिजात वृक्ष लाने का श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाया। इन्द्र ने श्रीकृष्ण की लोला की प्रशंसा की तथा कहा कि उन्होंने ही तो क्षीरसागर मन्थन के समय प्रकट हुआ यह वृक्ष मुझे सौंपा था। श्रीकृष्ण को, जो महाविष्णु के पूर्णावतार हैं, मुझे वृक्ष सौंपने में आपत्ति नहीं है।

पारिजात का अमर वृक्ष इन्द्राणी शचिरानी के महल में था इसलिये इन्द्र ने दूत को भेजकर पारिजात लाने की आज्ञा दी। दूत जब सन्देश लेकर इन्द्राणी शचिरानी के सम्मुख उपस्थित हुआ और देवेन्द्र का आदेश सुनाया तो महारानी शचि भड़क उठीं। उन्होंने पारिजात देने से स्पष्ट मना कर दिया। दूत ने लौटकर देवराज को महारानी की अनिच्छा का ज्ञान कराया। देवेन्द्र स्वयं शीघ्र ही शचि के पास गये और उन्हें कृष्ण

भगवान को अलौकिक शक्ति, पारिजात रहस्य तथा उनसे बैर न ठानने के लिये इन्द्राणी को बहुभाँति समझाया । इन्द्राणी न मानीं । उल्टा उन्होंने इन्द्र को फटकारा कि आप पुरुष होकर, देवों के अधिपति होकर ऐसा आचरण अपनी पत्नी के सम्मुख करते लज्जाते नहीं हैं। आप चूड़िया पहनकर बैठ जावें । मैं अकेली श्रीकृष्ण से युद्ध कर पारिजात की रक्षा कर लूंगी । देवेन्द्र सभाभवन लौट गये और पारिजात वृक्ष न देने का निर्णय घोषित कर ससम्मान देवर्षि नारद को बिदा किया ।

देवर्षि नारद ने लौटकर इन्द्र के निर्णय से भगवान मधुसूदन को अवगत कराया । श्रीकृष्ण ने देवर्षि नारद को पुनः भेजा कि पारिजात दे दो अन्यथा मैं युद्ध द्वारा बलपूर्वक उसे छीन ले जाऊंगा । देवर्षि ने देवेन्द्र को बहुभाँति समझाया । देवेन्द्र टस से मस न हुये । युद्ध के नगाड़े बज उठे। महाप्रभु श्रीकृष्ण एवं देवेन्द्र में भयंकर युद्ध छिड़ गया ।

पशुपतास्त्रों, ब्रह्मास्त्रों तथा अन्य दिव्यास्त्रों का खुला आदान-प्रदान होने लगा । शान्त क्षीरसागर अशान्त हो उठा । आयुधों के प्रहार से सीमाओं के समीप के ग्रह भी विनाश को प्राप्त होने लगे। भूमण्डल पशुपतास्त्रों की किरणों मात्र से जलने लगे । कितने ही ग्रह जन-विहीन हो गये। कितने ही असमय महाप्रलय को प्राप्त हो बिन्दु-बिन्दु में बदल क्षीरसागर में छितरा गये ।

सम्पूर्ण सनातन ऋषि श्रीकृष्ण एवं देवेन्द्र के पास गये और समझाया कि हे कृष्ण ! तुम सृष्टा होकर स्वयं संहाकर बन बैठे हो। सृजक ही विनाश लीला करने लगा है। इस युद्ध को बन्द कर दो। यह युद्ध अन्तहीन है। तुम दोनों अमर देवता हो । तुम्हारा दोनों का इस युद्ध से कुछ भी अहित होने वाला नहीं ; व्यर्थ में भूमण्डल एवं जन-जातियाँ असमय मृत्यु को प्राप्त हो रही हैं।

श्रीकृष्ण न माने । उन्होंने इन्द्र से पारिजात दिलाने की मांग की ।

सनातन ऋषियों ने इन्द्र से कहा, "देवेन्द्र तुम्हीं मान जाओ। तुम रक्षक होकर भक्षक बन बैठे हो। इससे तुम्हारा और कृष्ण का कुछ भी अहित न होगा ; व्यर्थ में भूमण्डल और जनसमुदाय नाश को प्राप्त हो रहे हैं ।"

इन्द्र ने पारिजात देने से मना कर दिया । युद्ध चलता रहा। ग्रह विनष्ट होते रहे। ऋषिगण बारम्बार दोनों को समझाते रहे परन्तु दोनों ही न माने सम्पूर्ण ऋषियों ने तब दोनों को आकाशवाणी से सम्बोधित किया:—

"हे कृष्ण ! हे इन्द्र ! तुम दोनों अपराधी हो। तुमने सृष्टा और रक्षक होकर संहारक और भक्षक का रूप धारण किया। सृष्टियों का विनाश किया। तुम्हें इसका प्रायश्चित करना होगा। तुम दोनों युद्ध बन्द कर हमारी सभा में उपस्थित हो अन्यथा हम सब तुम्हें अभिशप्त करेंगे।"

दोनों ओर से युद्ध शान्त हो गया। कृष्ण और इन्द्र यथासमय सनातन ऋषियों की सभा में उपस्थित हुये। श्रीकृष्ण के साथ सलाहकार के रूप में देवगुरु बृहस्पति तथा इन्द्र के गुरु शुक्राचार्य थे। (शुक्राचार्य का श्रीकृष्ण से पुराना बैर था। वामन अवतार के समय राजा बलि के लोटे में शुक्राचार्य ने प्रवेश कर जल रोका था और वामन रुपधारी भगवान विष्णु ने दातून मारकर उनकी एक आँख निकाल दी थी।)

जी हां ! ऋषियों ने अपना निर्णय दिया, "श्री कृष्ण एवं देवेन्द्र ! तुमने व्यर्थ ही भूमण्डलो को नष्ट किया। संस्कृति नष्ट हुई। उपलब्धियाँ विनाश को प्राप्त हो गयी। फिर भी तुम्हारी युद्ध-पिपासा शान्त नहीं हुई। हम तुम्हें आदेश देते हैं कि तुम निरन्तर युद्ध करो। जो जीते पारिजात उसका। यह युद्ध हमारे बताये मार्ग पर होगा।

इस भूमण्डल पर तुम दोनों प्रत्येक मनुष्य के शरीर में निरन्तर युद्ध करोगे। जो जोते पारिजात उसका। मनुष्य की बुद्धि युद्धभूमि रहेगी। शरीर में अपने-अपने आधिपत्य घोषित करो ; अपने-अपने मार्ग घोषित करो तथा अपने-अपने प्रतीक ग्रह तथा वार इत्यादि घोषित करो।"

भला शुक्राचार्य मौके का फायदा कैसे न उठाते। उन्होंने इन्द्र को समझाया, "देखो देवेन्द्र ! तुम कहो कि युद्ध कृष्ण ने शुरू किया था। उन्होंने ही युद्ध में पहल की है अतएव अब इस युद्ध में मनुष्य के शरीर पर पहला आधिपत्य मेरा होगा तथा पहली मांग मेरी रहेगी।"

देवेन्द्र ने ऐसा ही किया और उनकी बात मान ली गयी। शुक्राचार्य एवं देवेन्द्र मन्त्रणाकक्ष में गये, वहाँ पर शुक्राचार्य ने इन्द्र को यूं समझाया "देखो इन्द्र ! भूलोक का मनुष्य दसों इन्द्रियों का दास है। उसके पास इन्द्रियों से अर्जित ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। पिछले जन्म-जन्मान्तरों के ज्ञान उसे रहते नहीं है इसलिए तुम दसों इन्द्रियों का आधिपत्य लो। मन को अपना वास स्थान घोषित करो। चन्द्रमा को अपना प्रतीक ग्रह घोषित करो। इन्द्रयोचित द्वैत धर्म ही तुम्हारा धर्म हो। तुम्हारे धर्म का गुरू मैं बनूंगा।

द्वैत, इन्द्रियों के धर्म का अनुसरण करने वाले तुम्हारे भक्त मुझे गुरु मानेंगे तथा द्वैताचार्य शुक्राचार्य के नाम से मेरी पूजा करेंगे (कालान्तर में द्वैतवाद ही दैत्यवाद कहलाया । द्वैताचार्य बिगड़कर दैत्याचार्य हो गये) । मनुष्य के शरीर में शुक्र पर मेरा आधिपत्य होगा तथा ग्रहों में भृगु ग्रह मेरा प्रतीक ग्रह होगा । सात दिनों में एक दिन मेरा होगा तथा एक दिन तुम्हारा होगा । मन और इन्द्रियों पर हमारा अधिकार हो जाने से कृष्ण हमारा कुछ न बिगाड़ सकेगा । बुद्धि का नियंत्रण ले नहीं सकता क्योंकि बुद्धि तो युद्धस्थल है । दसवीं इन्द्रिय में सम्पूर्ण शरीर आ जाता है तो कृष्ण मनुष्य के शरीर में क्या आधिपत्य पावेगा तथा कौन सा आधिपत्य बृहस्पति को दिलावेगा ? इसलिए इस युद्ध में तुम्हारी जीत निश्चित है ।"

देवेन्द्र सभा भवन में आये और ऋषिमण्डल को यथा सम्बोधित करके घोषणा की, "......दसों इन्द्रियों पर मेरा आधिपत्य रहेगा । मेरे नामान्तर ये इन्द्रिय (इन्द्र की) कहलावेंगी । मन में मेरा वास होगा, मेरे नामान्तर मन इन्द्र कहलावेगा (संस्कृत में मन का शब्दार्थ इन्द्र है) चन्द्रमा मेरा प्रतीक ग्रह होगा जो मेरे नामान्तर इन्द्र कहलावेगा (संस्कृत में चन्द्र का शब्दार्थ इन्द्र है) इन्द्रियों के धर्म अर्थात् द्वैत मार्ग ही मेरा मार्ग होगा । गुरू शुक्राचार्य मेरे मार्ग का गुरु होगा जो द्वैताचार्य कहलावेगा । भृगु ग्रह उसका प्रतीक ग्रह होगा जो उनके नामान्तर शुक्र ग्रह कहलावेगा । मनुष्य के शरीर मे प्रजनन ग्रंथियों में उसका वास होगा जो उसके नामान्तर शुक्र कहलावेंगी । सात दिनों में एक दिन मेरा होगा जो इन्द्रवार कहलावेगा । (कालान्तर में चन्द्रवंशी राजाओं से उसका नामकरण चन्द्रवार हो गया) इस दिन मेरे भक्त मेरी इष्टवत् पूजा करेंगे तथा एक दिन शुक्रवार कहलावेगा जिस दिन मेरे भक्त शुक्राचार्य का गुरुपूजन करेंगे । इस भूमण्डल पर प्रत्येक मनुष्य के शरीर में मेरा श्रीकृष्ण से युद्ध होगा ; जो जीते पारिजात उसका ।"

सभाभवन में सन्नाटा छा गया । इन्द्र ने सम्पूर्ण शरीर का ही आधिपत्य ले लिया । अब देखें भगवान मधुसूदन क्या कहते हैं ?

भगवान श्रीकृष्ण सौम्य भाव से मन्द-मन्द मुस्कराते हुये उठे । सनातन ऋषियों को यथा सम्बोधित किया और घोषणा की, "इन्द्र ने जो मांगा हमने स्वीकारा । अब मेरा आधिपत्य सुनें । मनुष्य के शरीर में आत्मा पर मेरा अधिपत्य होगा । आत्मा मेरे नामान्तर कृष्णः कहलावेगा । (कृष्ण और वसुदेव सूर्य के पर्यायवाची हैं) सूर्य मेरा प्रतीक

ग्रह होगा जो मेरे नामान्तर वासुदेव कहलावेगा। मनुष्य के तीसरे नेत्र (दिव्य चक्षु जो दसों इन्द्रियों से परे है) में देवगुरु बृहस्पति का स्थान रहेगा। अद्वैत योग का मेरा मार्ग रहेगा। मेरे भक्त दस इद्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ कर ही मुझे प्राप्त हो सकेगें और मन तथा इन्द्रियों को बाधकर योग मार्ग से ही गुरु बृहस्पति से दीक्षा ले सकेंगे। मरणशील इन्द्रियों के मार्ग से अमर ज्ञान कदापि न दिया जा सकेगा। मेरे भक्तों को दिव्यचक्षु, योग मार्ग को जागृत कर मुझसे अद्वैत करना होगा तभी मोक्ष का मार्ग पा सकेंगे। इसलिए आत्मा सदा इन्द्रियों एवं मन का अविषय रहेगा। सात दिनों में एक दिन मेरा होगा तथा एक दिन गुरु बृहस्पति का रहेगा। मेरी पूजा इन्द्र से पूर्व (सोमवार से पहले सूर्यवार) तथा गुरु बृहस्पति की पूजा शुक्र से पूर्व (शुक्र से पहले गुरुवार) होगी। इस भूमण्डल पर प्रत्येक मनुष्य के शरीर में मेरा इन्द्र से युद्ध होगा।"

श्रीकृष्ण की आलौकिकता की सबने प्रशसा की।

उसी क्षण प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में दो व्यक्तित्व समा गये———आत्मा और कृष्ण और मन इन्द्र! बुद्धि युद्ध का स्थल बन गई। पारिजात का युद्ध प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में आरम्भ हो गया।

जब भी यह बुद्धि; इन्द्रियों और मन द्वारा भटकाकर बहिर्मुखी कर दी जाती है. मन इन्द्र की पत्नी शची बन जाती है। आत्म-विमुख वह शरीर भस्मियों में बदल नालियों में सड़ने चल देता है तो मन इन्द्र पुकार उठता है, "रे कृष्ण! तू हारा—पारिजात मेरा।"

आत्मा मधुसूदन उसे पुन: यज्ञों द्वारा भस्मी से वनस्पति तथा बनस्पति से बालक रूप प्रदान करते हैं और पूछते हैं, "रे इन्द्र! कौन हारा? अभी तो युद्ध जारी है।"

काश यह बुद्धि सत्यभाम हो जावे! सत्य अर्थात् सत्य और भाम अर्थात् ज्योति! बनके सत्य की ज्योति अर्थात् सत्यभामा कृष्णप्रिया हो, जा मिले आत्मा यज्ञकुण्ड कृष्णा: की अमर ज्वालाओं से———तो पारिजात जीत लिया जावे। इन्द्र परास्त हो जावे! आह! यही युद्ध पारिजात का है।

यह शरीर किसका? मन इन्द्र का अथवा आत्मा कृष्ण का? पारिजात? माँ प्रकृति का सबसे सुन्दर पुष्प कौन सा है! रे मानव तेरा शरीर! इस युद्ध के रूपक की आड़ में अति गूढ़ तत्वदर्शन बड़े सरस ढंग से समझाया गया है। इसी प्रकार श्रीकृष्ण जी की अन्य लीलायें भी हैं।

जब भी यह शरीर भस्मी में बदल जाता है ; ब्रह्महत्या का पापी इन्द्र कमलनाल (अर्थात् गर्भनाल) में जा छिपता है। इसी गर्भनाल से बालक की उत्पत्ति होती है--इस प्रकार शरीर पर पहला आधिपत्य मन इन्द्र का होता है। इसी को अन्य लीला में कंस कहा है। दसवीं इन्द्रिय से सम्पूर्ण शरीर पर आधिपत्य हुआ मन इन्द्र अथवा कंस का तो कन्हैया जब अवतरित हुये इस शरीर में, तो यह मन और इन्द्रियों की जेल ही तो था। यूं जेल में प्रगट हुये कन्हैया। काश ! यह जेल मधुसूधन का सिंहासन बन गये। मारा जाये यह मन कंस !

इसलिये हे सखा ! इस विकाररूप मन कंस को मार दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाला कलिया नाग नथ और दिव्य - चक्षु, योगमार्ग का जागृत कर। सम्पूर्ण बहिर्मुखी चिन्तन को ध्वस्त कर दे। शोक रहित हो युद्ध कर !

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और यदि तू इसको सदा जन्मने और मरने वाला माने तो भी हे अर्जुन ! इस प्रकार शोक करने को योग्य नहीं है।

जातस्य हि ध्रुवं मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योंकि ऐसा होने से तो जन्मने वाले की निश्चित मृत्यु और मरने वाले का निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ। इससे भी तू बिना उपाय वाले विषय में शोक करने के योग्य नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधानान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण भूत प्राणी जन्म से पहले बिना शरीर वाले और मरने के बाद भी बिना शरीर वाले ही हैं। केवल बीच में ही शरीर वाले प्रतीत होते हैं तो उस विषय में क्या चिन्ता है।

इस प्रकार यदि तू उन्हें जन्मने और मरने वाला भी माने तो उन्हें अवश्य ही मरना है। तब उनके लिए तेरा कर्त्तव्य-विमुख होना कहाँ तक उचित है ? आज नहीं कल इनका

साथ छूटेगा हो। न कोई साथ आया न साथ जायेगा। इनके लिये योग के मोक्षद्वार को त्याग देना महापाप नहीं तो क्या है। इसलिये सम्पूर्ण मायाओं से युद्ध कर। यही मात्र धर्म है।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन—
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ २९॥

कोई (महापुरुष) ही इस आत्मा को आश्चर्य की ज्यों देखता है और वैसे ही दूसरा कोई आश्चर्य की ज्यों इसके तत्त्व को समझाता है और दूसरा (कोई ही) इस आत्मा को आश्चर्य की ज्यों सुनता है और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्मा को नहीं जानता।

इस आश्चर्यमय तत्व दर्शन को किसने जाना! आह!! युग भटकते चले गये। विद्वान केवल एक युद्ध की घटना की हीं वास्तविकता में देखने चले। एक बार भी न सोचा, अरे! यदि महाविष्णु को धरती ही जितानी होती तो उन्हें भूतल पर आने की क्या आवश्यकता थी? केवल अर्जुन के भाग्य में ही लिख देते तो सम्पूर्ण भूमण्डल का अधिपति हो जाता एक बार भी बगल में रखें संस्कृत के शब्दकोश न खोल कर देखे कि यहां सब नाम वाद के प्रतीक हैं, किसी व्यक्ति का नाम अपशब्दों पर नहीं हो सकता है। जब आत्म तत्वदर्शिनी पुस्तक पावन श्रीमद्भगवतगीता ही पूर्णतः युगों तक स्पष्ट न हो सकी तो आत्मा के रहस्य को कितनों ने जाना? नकुल=कुल हीन। द्रोण=मुरदाखोर पहाड़ी कौवा, बिच्छू। भीष्म = राक्षस आदि आदि। इन सबका रहस्य पहले अध्याय के भाष्य में स्पष्ट कर दिया है। भक्तगण प्रथम अध्याय का पुनरावलोकन करें।

इस प्रकार हे भक्तगण! इस आश्चर्यमयी आत्मा का तत्व दर्शन महाप्रभु घट-घट वासी श्रीकृष्ण अपने परम प्रिय सखा, लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि अर्जुन को स्पष्ट कर रहे हैं, स्तब्ध है! अवाक है! सत्यनिष्ठ अर्जुन! जिसे पाप समझकर युद्ध से विमुख हो रहा है, वही ध्रुव सत्य, मात्र धर्म बन गया है। जिसे धर्म जानता रहा है, वह मात्र माया का खेल प्रतीत होने लगा है।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

हे अर्जुन ! यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही अवध्य है इसलिये सम्पूर्ण भूत-प्राणियों के लिये तू शोक करने योग्य नहीं है।

हे तत्वखोजी ! जब आत्मा अवध्य है अर्थात् जिसे मारा नहीं जा सकता तो तू किसके परित्याग का शोक करता है। कौन मारता है और कौन मरता है। यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर यज्ञकुण्ड के सम्मुख ध्रुव प्रतिज्ञाओं द्वारा सबको मनसा-वाचा-कर्मणा मार और नथ के दस इन्द्रियो रूपी दस फन वाला काला नाग ——चल दे भीतर। समर्पण का प्रतीक वानप्रस्थ का श्वेत वस्त्र एवं शिखा सूत्र को त्याग। आतमकुण्ड की प्रलयंकर ज्वालाओं का प्रतीक भगवा धारण कर ——होके सन्यासी, चल दे आत्म यज्ञ को !

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने को योग्य नहीं है क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिए नहीं है।

यहाँ महाप्रभु धर्म और वर्ण के उचित कर्तव्य का उपदेश करते हैं। सबसे पहले जानें की वर्ण व्यवस्था क्या है ?

"जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज उच्यते ।

जन्म से सभी शूद्र हैं। जन्म से वर्ण व्यवस्था की कोई मान्यता नहीं है। यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त ज्ञानार्जन हेतु जब बालक गुरुकुल में प्रवेश पाता है, तब वैश्य है क्योंकि वह अर्जन हेतु वहां गया। तदनन्तर जब वह 'क्षत्र' को धारण कर यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव को दुहराकर मायाओं के महासमर में युद्ध की प्रतिज्ञा लेता है, तब वह 'क्षत्र' से क्षत्रिय है। जब वह युद्ध को जीत लेता है और ब्रह्म के माग का आचरण करने चल देता है तभी वह ब्राह्मण है। जब शिखा–सूत्र का अर्थात् जाति, कुल आदि सारी व्यवस्थाओं का परित्याग कर, अपनी तथा सभी बहिर्मुखी स्वजनों की चिता जला देता है, तभी वह सन्यासी है।

युगान्तर में इसी आध्यात्मिक वर्ण व्यवस्था को समाज ने भौतिक रूप से भी स्वीकार कर लिया। ज्ञानार्जन जैसा धनार्जन करने वाला वैश्य, मायायों के आध्यात्मिक योद्धा जैसा ही भौतिक योद्धा क्षत्रिय; ब्रह्म के मार्ग का आचरण करने वाले ब्रह्ममार्गी जैसा ही पूजा-पाठ इत्यादि करने वाला ब्राह्मण तथा शरीर सामग्री को आत्मा-हवन-कुण्ड में यज्ञ कर ब्रह्म कपाल से प्रकट होने वाले सन्यासी जैसे रूपक सन्यासी बनते चले गये। एक नित्य सत्य की रुपहली परछाईयां सत्य का स्थान पाने लगीं।

भौतिक गन्दगी का व्यवसाय करने वाला व्यक्ति, अज्ञान रूपी मल का संग करने जैसा शूद्र कहलाया। फिसलते समय के साथ भ्रम और भ्रान्तियों का प्रादुर्भाव होता चला गया। काल का व्यङ्ग देखो कि समस्या रूपी पेड़ों को न काट, विद्वान समाज कुल्हाड़े लेकर वृक्षों की परछाईयां काटता रहा। वही परछाईयां आज भी काट रहे हैं।

साधारण दृष्टि से भी देखा जाए तो योद्धा के लिए युद्ध कौन सा उचित है? जो धर्म पूर्वक तो हो ही तथा जिसको जीतने की सम्भावना भी हो। भौतिक सारे युद्धों की परिणति तो पूर्ण पराजय है। हर जीत को अन्धा काल पूर्ण पराजय में बदल, भस्मी बना, नालियों में सड़ने भेज देता है। अन्त में जीता कौन? अन्धा काल धृतराष्ट्र !

ऐसा युद्ध जिसमें जीतने की सम्भावना हो---मात्र एक माया महासमर ही है। जीतकर जिसे, योद्धा अमरत्व को धारण कर अन्धे काल को भी पराजित कर कालातीत हो सकता है। इसलिए अध्यात्मिक वर्ण विभाग से क्षत्रिय का मात्र धर्म---यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर माया महासमर को लड़------सबसे विरक्त हो, एक लक्ष्य का आचरण करने के लिए अन्तर्मुखी हो, आत्मा से अद्वैत कर जीत को प्राप्त होना है।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥

हे पार्थ ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं।

इसलिए हे अर्जुन ! तू इस परम पावन मात्र युद्ध को कर। यह स्वर्ग का खुला द्वार है; जहाँ हार भी स्वर्ग है और जीत निश्चय ही मोक्ष है। अरे! कोई भाग्यवान ही जन्मों के संचित पुण्य पाकर इस मार्ग का अनुसरण कर सकता है।

अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥

और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा तो स्वधर्म को और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।

पाप को क्यों प्राप्त होगा ? स्वधर्म और कीर्ति को क्यों खोयेगा ? इसलिए कि क्षत्रिय का धर्म तो माया महासमर लड़ना है, विमुख होना नहीं है। अज्ञान के कारण ही मोह उत्पन्न होता है। मोह ही भ्रम की उत्पत्ति करता है और भ्रमित होकर तू युद्ध से उपराम होता है। अज्ञान ही तो शूद्र है। शूद्रता को प्राप्त हो गया अर्जुन क्षत्रिय कहाँ ? स्वधर्म और क्षत्रियोचित कीर्ति कहाँ ? इसलिए युद्ध को न कर निश्चय ही पाप को प्राप्त होगा ।

अकीर्ति चापि भूतानि
कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्ति–
र्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥

और सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति को भी कथन करेंगे और अपकीर्ति माननोय पुरुषों के लिए मरण से भी अधिक बुरी होती है।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषाँ च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥

और जिनके तू बहुत माननीय होकर अब तुच्छता (अर्थात् शूद्रता) को प्राप्त होगा वे महारथी लोग तुझे भय (अर्थात् भ्रान्ति से अज्ञान जो पाप है) के कारण युद्ध से उपराम हुआ मानेंगे।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥

और तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए बहुत से न कहने योग्य वचनों को कहेंग फिर उससे अधिक दुख क्या होगा।

वैरी लोग कौन हैं ? जिनके मोह के कारण तू युद्ध से उहराम हो रहा है। जिनको त्यागकर अन्तर्मुखी होने में तेरी भ्रांतिया बाधक हैं तथा जो तेरे भटकाव का मूल कारण है;

ऐसे प्रियजन हो वस्तुतः तेरे बैरी हैं, जो तेरी निंदा करेंगे। इससे बढ़कर और दुख क्या होगा ? जिनके लिए तू युद्ध से उपराम हो रहा है, वही प्रियजन ही तेरे मूल बैरी हैं तथा वे ही तुझे न कहने योग्य वचनों को कहेंगे।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं
जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय
युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

या तो मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा जीतकर भूमण्डल को भोगेगा। इससे हे अर्जुन ! युद्ध के लिए निश्चय वाला होकर खड़ा हो।

तप के मार्ग में यदि मृत्यु को भी प्राप्त हो गया तो भी स्वर्ग का अधिकारी होगा। यदि 'अहंब्रह्मास्मि' को प्राप्त हो गया तो भूमण्डल का अधिपति हो उसे भोगेगा।

पृथ्वी को किसने भोगा? केवल उसने जिसने अन्ध काल को पराजित किया। अन्यथा प्रत्येक राजा को ; प्रत्येक व्यक्ति को, अन्ध काल ने भोगा और उनके जीवन के स्वर्णमय बहुमूल्य क्षणों को भोगकर राख के कणों में बदलता चला गया। अन्त में भोगकर सम्पूर्ण, उसे भस्मी में बदल, नाली में सड़ने भेज दिया।

जान सत्य को रे प्यारे भक्त ! यहाँ व्यर्थ ही लोग सोचते हैं कि मैंने इसको भोगा, उसको भोगा सत्य कुछ और ही है। अन्धे काल ने भोगा सबको और भोगकर उनका अमृतमय जीवन, चूसकर रस सारा, बदलकर राख में बहा दिया। तू सोचता ही रहा कि भोग रहा है तू, जबकि भोग रहा था काल अन्धा।

किसे न भोग सका काल अन्धा ? जो यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन मात्र को नष्ट कर––दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाला काल नाग नथ––अन्तर्मुखी हो आत्मा से अद्वैत कर––शरीर सामग्री को आत्म-यज्ञ-कुण्ड में यज्ञ करता––तेज में बदल ––ब्रह्मकपाल से प्रकट हो अमरत्व को धारण कर गया। हार गया अन्धा काल उससे ! भोगेगा अब वही !

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥३८॥

सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को समान समझकर उसके उपरान्त युद्ध के लिए तैयार हो इस प्रकार तू पाप को नहीं प्राप्त होगा ।

यदि तू कहे कि स्वर्ग और मोक्ष तथा पृथ्वी के स्वामीपने से भी मुझे क्या प्रयोजन ? तो भी युद्ध करना ही तेरा परमधर्म है, क्योंकि मोक्ष तो लक्ष्य है। लक्ष्य हीन जीवन पाप है। तुझे मोक्ष की लिप्सा नहीं होनी चाहिए पर मोक्ष के हेतु सम्पूर्ण कर्म तो निश्चय ही करनें चाहिये। यही मात्र धर्म है। इसलिए मोक्ष-लक्ष्य के हेतु तू सुख-दुख, लाभ-हानि, जय-पराजय का ध्यान न करता हुआ युद्ध करे।

बहुत से भक्त मित्रों में यह भ्रांति देखने को मिलती है कि हमें स्वर्ग और मोक्ष से क्या प्रयोजन, अरे भई! आपके यह शब्द तो ठीक ऐसे ही हैं जैसे कोई बालक कहे, 'पिता-जी मेरे को पास होकर अगली क्लास में जाने से क्या प्रयोजन ?" तब क्या ये भक्त पिताजन कहेंगे, "अहा ! हमारा बेटा परम् बुद्धिमान हो गया ! परम् सिद्ध हो गया ! जीवन धन्य हो गया इसका।" वरन् इसके विपरीत उसे डाट-फटकार देंगे।

ठीक उसी प्रकार त्रैलोकेश्वर महाप्रभु कृष्ण का आदेश है कि तुझे लक्ष्य रूपी मोक्ष की लिप्सा नहीं होनी चाहिये। जय-पराजय, सुख-दुख, लाभ-हानि का ध्यान नहीं होना चाहिये परन्तु तुझे लक्ष्य रूपी मोक्ष के मार्ग का निःसंदेह ज्ञान होंना चाहिये तथा लक्ष्य के हेतु सम्पूर्ण कर्म एवं चेष्टायें होनी चाहिये। जहां लक्ष्य की चिन्ता पाप है, वहाँ लक्ष्य के हेतु से कर्म-विमुख होना महापाप है।

सोचो ! क्या माधव अर्जुन को आदेश देंगे कि तू लक्ष्यहीन बाण चला-भले ही लगे युधिष्ठर को ? कदापि नहीं ! कोई भी कर्म यदि लक्ष्य हीन है तो महापाप है। अज्ञान से उत्पन्न है तो भी महापाप है, लिप्सा सहित है तो भी पाप है। इससे स्पष्ट है कि किसी भी कर्म में लक्ष्य तथा उसका स्पष्ट ज्ञान परमावश्यक है तथा उस कर्म को लिप्साओं से रहित होकर ही किया जाये।

ठीक है मुझे मोक्ष की चाहना नहीं है। मोक्ष मिलेगा अथवा नहीं इसकी परवाह नहीं है। परन्तु मनुष्य जीवन का मात्र स्वधर्म, मात्र कर्म, मात्र लक्ष्य तो पहली क्लास; मनुष्य योनि से ; दूसरी क्लास मोक्ष को प्राप्त होकर जाना है। यह तो ईश्वर प्रदत्त हैं तथा इसी के लिये सम्पूर्ण चेष्टायें हैं। इसी के लिये तो प्रकृति और पुरुष मुझे निरन्तर उत्थान दिलाते हुये भस्मी से दुर्लभ मनुष्य जन्म में लाये हैं। तब प्रकृति-द्रोही, आत्म-

द्रोही, धर्म-द्रोही, यज्ञ-द्रोही, परमेश्वर-द्रोहो होना कहाँ की बुद्धिमानी है। इसलिये पाप रहित होकर युद्ध कर।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमाँ शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिए सांख्य हेतु कही गई और इसी को अब योग के विषय में सुन—जिस बुद्धि से युक्त हुआ कर्मों के बन्धन को अच्छी तरह नाश करेगा।

इस प्रकार सांख्य रूपी तीव्र धारा से अब हमारी नाव निष्काम कर्म योग की धाराओं में प्रवेश पाने को आतुर है। श्रीमद्‌भगवतगीता रूपी अमृत गंगा, जो स्वयं परंब्रह्म भगवान श्रीकृष्ण के श्रीमुख से प्रगट हो रही है ; ऐसी पवित्र अमृतमयी धाराओं में झूम रही नाव, हम भाग्यवानों की है। इस माया रूपी भ्रम जाल को तिरोहित कर रहे हैं—मधुसूदन माधव स्वयं हमारे लिये।

सांख्य रूपी ज्ञान योग से हमारे नाना भ्रमजाल मिट गये। सन्देहों का निवारण हो गया। सत् और असत्, पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म के रहस्यों को संशयरहित हो जानने के उपरान्त अब सुनेंगे निष्काम कर्म योग ; जिसको करने से व्यक्ति कर्म फल रूपी बन्धनों में नहीं बँधता है तथा जिसके द्वारा वह अपने जीवन के लक्ष्य, मोक्ष का मार्ग निरन्तर प्रशस्त करता चलता है।

इसके साथ महाभारत रूपो लीला युद्ध के द्वारा दिखाये प्रत्येक व्यक्ति के अन्तरद्वन्द एवं माया महासमर के रहस्य प्रकट होते चले गये। कबूतर का 'क', खरबूजे का 'ख' अब स्पष्ट हो गया है।

नेह भिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥

इस योग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और उल्टा फल रूप दोष भी नहीं होता है इसलिये इस धर्म का थोड़ा भी साधन, जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से उद्धार कर देता है।

अर्थात् इस निष्काम कर्म योग में कर्म करता हुआ जीव, किसी प्रकार के कर्म फल भोग रूपो दोष में न फंसता हुआ स्वयं को जन्म-मृत्यु रूपी आवागमन के चक्कर से बचा सकता है तथा मोक्ष का अधिकारी हो सकता है।

व्यवसायात्मिक बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

हे अर्जुन ! इसमें (परम् कल्याण मार्ग में) निश्चयात्मक बुद्धि एक ही है और अज्ञानी (सकामी) पुरुषों की बुद्धिया बहुत भेदों वाली अनन्त हैं।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥

हे अर्जुन ! सकामीजन केवल फल श्रुति में ही प्रीति रखने वाले स्वर्ग (ऐश्वर भोगादिक) को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले तथा इससे बढ़कर और कुछ नहीं है, ऐसे कहने वाले हैं। वे अविवेकीजन जन्म रूप कर्म फल को देने वाली और भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए बहुत सी क्रियाओं के विस्तार वाली इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

उस वाणी द्वारा हरे हुये चित्त वाले तथा भोग ऐश्वर्य में आशक्ति वाले उन पुरुषों के अन्त: करण में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है।

अर्थात् ऐसे अविवेकी जन सदा ही धर्म के नाम पर पाखण्ड और भ्रम को पूजते, पाप को ही नित्य कमाते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यों भावार्जुन ।
निर्द्वन्द्वोनित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

(तथा) हे अर्जुन ! सब वेद तीन गुणों के कार्य रूप संसार को विषय करने वाले हैं इसीलिये तू असंसारी अर्थात् निष्कामी और सुख--दुःखादि द्वन्द्वों से रहित नित्य वस्तु में स्थित योग और क्षेम को न चाहने वाला आतमा में ही स्थित हो।

परम्धाम गोविन्द उपरोक्त श्लोकों में दो सर्वथा विपरीत मार्गों को स्पष्ट करते हैं। एक मार्ग है---सकाम मार्ग जिसका प्रेरक इन्द्र अर्थात् 'मन' है। यहाँ इन्द्रियोचित द्वैत

धर्म के रूपहले नाटक ही धर्म का स्थान पाते हैं। यहाँ पूजा पाठ--के पीछे मन इन्द्र के ध्येय विशेष रहते हैं। 'ऐसा करूँगा तो यह हो जावेगा' आदि भौतिक लिप्साओं से प्रेरित हो धर्माचरण करने वाले तथा नित्य असत् वस्तु में ही विचरण करने वाले, भोग-ऐश्वर्य को ही सब कुछ मानने वाले सकामीजन हैं। इनके पास नाना प्रकार की बुद्धियाँ हैं; नाना प्रकार की दिखाऊ शोभायुक्त तर्क हैं। उदाहरणार्थ :-

"पितु मातु सहायक स्वामी सखा,
तुम ही इक नाथ हमारे हो।"

बहुत ही तन्मय हो सपरिवार गया। नौजवान लड़के को बात लग गई, बोला-जब वही सब कुछ हैं तो मैं उसी आतमा की शरण होने के लिये भौतिक जगत से छूट चला। बिगड़ गये। कहने लगे, "माता-पिता के प्रति तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं? पत्नी, सन्तान के प्रति तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं? धिक्कार है तुम्हारे इस जीवन पर।"

लीजिये ये महानुभाव जो थोड़ी देर पहले गाये थे उसमें इनकी आस्था नहीं थी। ईश्वर को झांसा मात्र दे रहे थे। इसी प्रकार सम्पूर्ण सकाम मार्ग में केवल दिखाऊ शोभा और वाणी--विलास के अतरिक्त कुछ भी सम्भव नहीं। ये सब तथाकतिथ महात्मा जन मात्र दिखावा करते हैं। न तो अपने कहे को मानते हैं न ही उसका आचरण करते हैं। घर बैठे योगीराज कहलाने में लिप्सा विशेष है। अपने योगीपन के सत्य को जमाने के लिये नाना प्रकार के तर्क देंगे। सत्य पर रुपहले झूठ का भ्रान्तिपूर्ण पर्दा चढ़ाने में इन्हें विशेष दक्षता प्राप्त है। सिद्ध करेंगे कि योगी और संसारी दोनों मार्ग एक साथ चल सकते हैं।

पूछिये क्या आप एक साथ दो विपरीत मार्गों पर चल सकते हैं? जैसे कोई कहे कि मैं लखनऊ से एक साथ दिल्ली और कलकत्ता जा सकता हूँ तो उसे सब लोग पागल कहेंगे। ठीक उसी प्रकार दो सर्वथा विपरीत मार्गों पर चलने का दावा स्वयं में कितना थोथा है, इसका निर्णय आप स्वयं करें। एक मार्ग बहिर्मुखी सकाम मार्ग है जिसका प्रेरक इन्द्र अर्थात् मन है; दूसरा निष्काम अन्तर्मुखी मार्ग है जिसका प्रेरक आतमा कृष्ण है। पारिजात युद्ध में दोनों एक दूसरे के प्रबल शत्रु हैं और यही युद्ध प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में निरन्तर है।

एक मार्ग नित्य सत्य के आचरण का है दूसरा मार्ग भ्रम छलावे और असत्य के आचरण का है। दोनों एक दूसरे से सर्वथा विपरीत और उल्टे हैं।

जो एक दाना गेहूँ का भस्मी से नहीं बना सकता सो सकामी दानीदाता बन जाता है और परिवार के भरण–पोषण का थोथा दावा सिद्ध करने लगता है। पूछिये कि तू स्वयं दाने-दाने का नित्य भिखमंगा, तू पेट किसका भर रहा है ?

एक थाली भर भोजन से एक बूंद रक्त नहीं बना सकते तो पूछिये तूने लड़का कैसे बनाया ? एक उंगली का पोरवा तो बना के दिखा ? अन्यथा जिसने यज्ञों के द्वारा वनस्पति को रक्त मांस में बदला तथा जिसने उन्हें बालक रूप दिया सो पिता है। तुझे इसका कुछ भी ज्ञान नहीं तो तू पिता कैसे हो गया ?

किसी के घर लड़का हुआ और हिजड़ों का दल वहां खुशियां मनाने पहुंच गया। लगा गाने कि "हमारे लल्ला हुआ।" क्या यही स्थिति तुम्हारी नहीं है? लड़का तो आत्मा मधुसूदन माधव के हुआ और बीच में इन्द्र के भांड गाने लगे कि उनके पुत्र हुआ। यह असत्य का आचरण नहीं तो क्या है ?

इतना ही नहीं उन्हें चिन्ता है उसके भविष्य के बन जाने की, दुःख है फेल हो जाने का। चिन्ता है रिटायरमेन्ट के बाद क्या करेंगे और नारा है योगेश्वर कहो मुझे ! नाराज भी हैं कि मैंने ऐसा क्यों कहा कि, 'श्रीमद्‌भगवतगीता की दृष्टि में घर बैठे योगी बनने के बाद विदूषकवाद है।' अरे भई ! घर बैठकर असत्य और भ्रम का साथ करना भांडपना नहीं तो क्या है ?

यदि घर बैठ योगी बनना सभंव होता तो अर्जुन को क्यों सबको त्यागने का माया-महासमर लड़ना पड़ता ?

घर बैठे अधिक से अधिक मैं योगमार्ग पर आने का प्रयास तथा संकल्प दृढ़ कर सकता हूँ। निष्काम कर्मयोग के द्वारा स्वयं को शनैः शनैः परिस्थितियों तथा दिखाऊ शोभा के भ्रम से विरक्त कर सकता हूँ। जिस दिन विरक्ति पूर्ण हो जावेगी, मैं पूर्णरुपेड़ अनासक्त हुआ सर्वत्र उसी को देखता हुआ–––उसके अतिरिक्त कोई रिश्ता नहीं है, मनसा-वाचा-कर्मणा जानता हुआ सन्यासी हो जाऊँगा, तभी योगी हूं मैं। उससे पूर्व तो मैं मात्र अनासक्त मार्गी हूँ। अनासक्त भी नहीं हूँ क्योंकि जिस दिन पूर्ण अनासक्त हो गया, उस दिन सन्यासी हूँ मैं।

सत्य मार्ग का आचरण करने वाले के सारे स्वजन उसके भीतर ही होते हैं। पांच तत्व से बना शरीर पाण्डु है जो पिता है। चेतना की कुन्ती है जो माता है। पांच बुद्धियां ही पांच पाण्डव हैं जो भाई हैं। द्रौपदी ही संज्ञा नाम उभय पत्नी है। अभिमन्यु अर्थात् प्रलयंकर यज्ञ अग्नियों में प्रवेश करने का निर्णय ही पुत्र है। शेष सारे भौतिक रिश्ते मात्र ही कौरव हैं तथा कौरवों के साथी हैं।

इस प्रकार सम्पूर्ण वाह्य जगत मात्र ही कौरव है जिसे परास्त कर अर्थात् मनसा-वाचा-कर्मणा चिन्तन से त्याग, दस इन्द्रियों रुपी दस फन वाला कालिया नाग नथ ; मन इन्द्र को पराजित कर ; आत्म-कुण्ड कृष्णाः में स्वयं को स्थापित कर, योग के द्वारा अद्वैत हो जाना है। सो लक्ष्य है – यही मोक्ष है।

किस प्रकार निष्काम कर्मयोग द्वारा मैं स्वयं को परिस्थितियों तथा कर्म-फल-भोग रूपी दोष से अछूता रखते हुए, निरन्तर अन्तर्मुखी हो सकता हूँ जिससे किसी प्रकार के पाप का बन्धन न हो ––ऐसा उपदेश आगे के श्लोकों में महाप्रभु गोवर्धनधारी गोपाल, मधुसूदन माधव, परमप्रिय कन्हैया स्पष्ट करते चल रहे हैं। आओ मित्रों ! ज्योर्तिमय परम् सत्य का साक्षात्कार करें तथा मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य सा दिखने वाला, असत्य रुपी भौतिक भ्रम से ऊपर उठते चलें। गोविन्द हरि ! गोविन्द हरि !!

इसलिए हे अर्जुन ! तू इस तीन गुणों के कार्यरूप भौतिक संसार को त्याग असंसारी हो अर्थात् निष्कामी–योगक्षेम को न चाहने वाला, सुख–दुःखादि द्वन्दों से रहित, सदा नित्य वस्तु आत्मा में ही स्थित हुआ, सब कुछ आत्मा में ही देख।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त होने पर जितना प्रयोजन रहता है अच्छी प्रकार तत्व को जानने वाले ब्रह्ममार्गी का भी सब वेदों में उतना प्रयोजन रहता है।

जिसे मिल गया आत्मा सागर उसे नाना प्रकार के ज्ञान से क्या काम। अहो ! सम्पूर्ण वेद, मात्र आत्मप्राप्ति का मार्ग ही तो प्रशस्त करते हैं। आत्मा से मिलने का प्रयास रूपी महासमर तो तुझे ही लड़ना पड़ेगा। जो लड़कर महासमर, हो गया आत्म-परायण, वह तो अनजाने ही सम्पूर्ण वेदों के मार्गों का अनुसरण कर वेदों के मात्र लक्ष्य-आत्मप्राप्ति, को प्राप्त हो गया तो उसका अब वेदों से भी क्या प्रयोजन ?

अर्थात् जैसे बड़े जलाशय के प्राप्त हो जाने पर जल के लिये छोटे जलाशयों की आवश्यकता नहीं रहती वैसे ही आत्मानन्द की प्राप्ति होने पर आनन्द प्राप्ति हेतु वेदों के ज्ञान की भी आवश्यकता नहीं रह जाती है।

कर्मण्येवाधिकारस्तं मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ ४७ ॥

तेरा कर्म करने मात्र में ही अधिकार होवे फल में कभी नहीं (और तू) कर्मों के फल की वासना वाला भी मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे।

कर्म क्या है ? लक्ष्य, चिन्तन और क्रिया। जब यह तीनों जुड़े तो कर्म की उत्पत्ति हुई। किसी भी कर्म को करने के लिये कर्म के बीज अर्थात् कारण की उत्त्पत्ति हुई ; उपरान्त चिन्तन द्वारा उस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु योजना बनाई, तदनन्तर क्रिया द्वारा उसे क्रियान्वित किया। इस प्रकार लक्ष्य, चिन्तन और क्रिया मिले तो कर्म बना। स्थूल उदाहरण देकर समझाते हैं।

एक भौतिक लक्ष्यधारी मित्र ने सोचा कि परिवार के भरण-पोषण हेतु धन कमा या जाये तो उन्होंने धन कमाने हेतु (लक्ष्य) एक व्यापार की योजना (चिन्तन) बनाई। भाग-दौड़कर दुकान देखी और व्यापार (क्रिया) शुरू किया। इस प्रकार एक कर्म हुआ।

अब धन कमाना तो 'लक्ष्य' है तो 'कर्मफल' क्या है ? किसी भी कर्म को करने के उपरान्त आई हुई वासनायें ; राग-द्वेष, हर्ष, भय, विषाद आतंक, लोभ, मोह, ईर्ष्या, घृणा आदि कर्मफल हैं जो कर्म रुपी वृक्ष के उपरान्त आती हैं। कर्मरूपी वृक्ष का बीज 'लक्ष्य' है ; तना चिन्तन है, टहनियाँ क्रिया हैं तथा फल राग, द्वेष. ईर्ष्या आदि हैं जिनको त्यागकर एक मस्त, उन्मुक्त खिलाड़ी की तरह ही खेलना है हमको ! 'सनातन दर्शन की पृष्ठिभूमि' के छठे अध्याय में इसका विस्तृत विवेचन है।

यह तो हुआ भौतिक उदाहरण परन्तु यहां पर माधव अर्जुन को असंसारी होने का आदेश करते हैं तो यहां कर्म का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है जो इससे पूर्व के श्लोकों से स्वयं सिद्ध है।

इसलिये हे अर्जुन ! तू राग, द्वेष, आतंक, भय, शोक, मोह आदि कर्म फल रूपी वासनाओं को त्यागकर जितने के, मात्र कर्म के लिए माया महासमर में निष्काम भाव

से खड़ा हो। कर्महीन होना महापाप है इसलिये हे पार्थ ! कर्म रूपी इस माया महासमर का परम् तेजस्वी योद्धा बनकर प्रलयंकर युद्ध कर, सम्पूर्ण मायाओं को परास्त करता हुआ अन्तर्मुखी हो जा।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

हे धनंजय ! आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्मों को कर, समत्वभाव ही योग कहा जाता है।

इसलिये हे धनंजय ! आसक्ति रूपी असत् को त्यागकर कार्य की सिद्धि अर्थात् प्राप्ति अथवा अप्राप्ति के चिन्ता रूपी कर्म फल की वासना को त्याग कर, योग में स्थित हुआ, अर्थात् आत्मा में ही स्थित हुआ, 'लक्ष्य' के हेतु कर्म कर। यह समत्व भाव ही योग का मूल है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥ ४९ ॥

(समत्व अर्थात् आत्म स्थित) बुद्धि योग से (सकाम) कर्म अत्यन्त तुच्छ है इसलिये हे धनंजय ! समत्वबुद्धियोग का आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल की वासना वाले अत्यन्त दीन हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

समत्वबुद्धि युक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है इससे समत्व बुद्धि योग के लिये ही चेष्टा कर। यह समत्व बुद्धि योग ही कर्मों में चतुरता है।

अर्थात् समत्वबुद्धि युक्त पुरुष कर्मफल रूपी वासनाओं से विरक्त तथा आत्म स्थित होने के कारण पुण्य और पाप दोनों में ही फसता नहीं है। ऐसा निर्लिप्त आत्म योगी ही कर्म बन्धन से छूटकर, जन्ममृत्यु रूपी भय से सदा के लिये छूट जाता है। इसलिये सकाम, दीन कर्मयोग से आत्मपरायण समत्व बुद्धि योग परम् श्रेष्ठ है और लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ हैं।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

क्योंकि समत्व बुद्धि योग युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से छुटे हुए निर्दोष अर्थात् अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं।

इसलिए हे सखा ! आत्मपरायण हो अनासक्त भाव से समत्वबुद्धि योग का आचरण कर क्योंकि आसक्ति न रहने से उसमें फंसेगा नहीं।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जिस काल में तेरी बुद्धि मोह रूपी दल-दल तर जायेगी तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के वैराग्य को प्राप्त होगा।

मोह रूप दलदल को बुद्धि पूरी तरह कब तर जायेगी? जब तू पूर्ण रूपेण आत्मपरायण हो, समत्वबुद्धि योग का पूरी तरह से आचरण करता हुआ पूर्ण अनाशक्त हो जावेगा तभी तू वैराग्य को प्राप्त होगा और तभी योगी कहावेगा।

(इससे भी स्पष्ट होता है कि आसक्ति में फंसे, गृहस्थ जीवन में लिप्त होकर योगी कहलाने का वाद विदूषकवाद है।)

इस प्रकार योग की मूल तथा प्रथम सिद्धि है पूर्ण अनासक्ति, आत्म परायणता तथा अटल समत्वबुद्धि योग। ऐसी स्थिति को प्राप्त हो गया पुरूष कदापि गृहस्थ नहीं हो सकता। पुनः स्पष्ट किया है :-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

जब तेरी अनेक प्रकार के सिद्धान्तों को सुनने से विचलित हुई बुद्धि परमात्मा के स्वरूप में अचल, स्थिर और ठहर जावेगी तब तू समत्वरूप योग को प्राप्त होगा (अर्थात् योगी होगा)।

अचल अर्थात् जो न चलायमान हो। ऐसा नहीं कि आधे घन्टे अचल और शेष दिन पत्नी, सन्तान और नौकरी में चलायमान रहें। निश्चल तथा अटल से यही प्रयोजन है कि

जो व्यक्ति उठता, बैठता, चलता-फिरता निरन्तर आत्मा में ही स्थापित रहे तथा जो आत्मा को ही सर्वत्र देखे और ध्यान रूप उसी में निरन्तर स्थापित रहे—वही योगी है। उसी को अन्तर्मुखी जानना चाहिये। शेष जगत जो इस मार्ग में प्रयत्नशील है उन्हें भक्त जानना चाहिये।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुन ने पूछा :—हे केशव ! समाधि में स्थित स्थिर बुद्धि वाले पुरुष का क्या लक्षण है स्थिर बुद्धि पुरूष कसे बोलता है, कैसे बैठता है, कंसे चलता है।

श्रीभगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

श्रीभगवान ने कहा :—हे अर्जुन ! जिस काल में (यह पुरुष) मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है उस काल में आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

अर्थात् आत्मा में सब कुछ देखता हुआ, वाह्य जगत मात्र को, मिथ्या जानता हुआ सम्पूर्ण वाह्य कामनाओं को त्याग, आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट होता है उसी काल में स्थिर बुद्धि वाला कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥

दुःखों को प्राप्ति में उद्वेगरहित है मन जिसका और सुखों की प्राप्ति में दूर हो गई है स्पृहा जिसकी तथा नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है।

अर्थात् जो सम्पूर्ण इन्द्रियों को लिप्साओं को त्यागकर आत्मा में ही स्थित हो गया है ; सम्पूर्ण जगत को मिथ्या तथा मात्र लीला जानता हुआ एक आत्मा में ही स्थापित हो गया है तथा वाह्य जगत के सुख-दुःख, राग, द्वेष और क्रोध आदि जिसको विचलित

नहो कर पाते हैं--अहो ! ऐसे मुनि ही स्थिर बुद्धि वाले हैं। वही योगी है। यही योग की मूल स्थिति है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस शुभ तथा अशुभ को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिरि है।

अर्थात् जो सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन मात्र से स्नेहरहित हो गया है--वही आत्मा के स्नेह के योग्य है। अब वाह्य शुभ और अशुभ घटनाओं में स्नेह न रहने से वे घटनायें उसे सताती नहीं है। ऐसे महापुरूष की बुद्धि स्थिर कही जाती है।

उसे क्यों नहीं सताती ? क्योंकि उसने स्वयं को आत्मा माधव के सम्मुख समर्पण कर दिया है। जब हो गया समर्पित तो फिर उसे चिंता क्यों ? पुनः उसे आत्मा माधव के अतिरिक्त कुछ भासता ही नहीं है; वाह्य जगत से तो वह पूर्ण निर्मोही है, तो उसे शुभ और अशुभ से लेना क्या ? जब मोह ही नहीं तो दुखा कैसा ?

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

और कछुआ अपने अंगों को जैसे समेट लेता है वैसे ही ये पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

जानो रे मेरे परमप्रिय सखाओ ! कछुआ भी जब खतरे का आभास करता है तो अंगों को समेट लेता है पीठ के नीचे ! तुम तो बुद्धिधारी मनुष्य हो--जानते हुये कि खतरा भारी है; मन इन्द्र, इन्द्रियों की लिप्साओं में जीवन के स्वर्णमय क्षणों को भोगता--भस्मो में बदल नालियों में सड़ने भेज देगा तो क्यों न इन्द्रियों को समेट, उस आत्मा रूपा अभेद्य अमरढाल के नीचे समा जाओ ! गोविन्द हरि !

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

(इद्रियों के द्वारा) विषयों को न ग्रहण करने वाले पुरुष के भी (केवल) विषय तो निवृत्त हो जाते हैं परन्तु राग नहीं (निवृत्त होता) और इस पुरुष का तो राग भी आत्मा को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है।

यहां कहने का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों को इन्द्रियों से हठात् रोकने से भी किसीप्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है। कारण ? मूल तो बुद्धि का आत्मपरायण होना तथा लिप्साओं से मुक्त होना है। यदि बल पूर्वक इन्द्रियों को उनके विषयों से छुड़ा लिया परन्तु बुद्धि का चिन्तन उनकी लिप्साओं में ही लगा रहा तो आत्मपरायण हुआ ही नहीं। इस प्रकार कर्म के दोष से तो बच गये परन्तु चिन्तन का पाप तो बना ही रहा।

इसके विपरीत समत्वबुद्धि योगधारी आत्मपरायण योगी की बुद्धि नित्य आत्मा में स्थित रहने से विषयों का चिन्तन होता ही नही है। इसलिये कर्म और चिन्तन द्वारा किसी प्रकार के दोष को प्राप्त नहीं होता है। इसलिये आत्मपरायण समत्वबुद्धि योग कर्मयोग से महान है।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

(और) हे ! अर्जुन जिसके कि यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के भी मन को यह प्रमंथन स्वभाववाली इन्द्रियां बलात्कार से हर लेती हैं।

जो आत्म-परायण नहीं हैं, ऐसे हठी और बुद्धिमान पुरुष को भी पुनः पुनः मन्थन द्वारा मंन को फुसलाकर ये इन्द्रियां जबर्दस्ती बुद्धि का हरण कर लेती हैं। इसलिये बुद्धि को सदा नित्य सनातन वस्तु आत्मा में लगाये रखना चाहिये।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहित चित्त हुआ मेरे परायण स्थित होवे क्योंकि जिस पुरुष के इन्द्रियां वश में होती हैं उसकी ही बुद्धि स्थिर है।

इसलिये मनुष्य को चाहिये कि इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ अन्तर्मुखी हो, मुझ आत्मा से ही निरन्तर योग करे। इससे उत्तम कोई दूसरा मार्ग नहीं हैं। क्योंकि इन्द्रियों को वश में करने के लिये उनके ध्यान से भी मुक्त होना परमावश्यक है तथा सम्पूर्ण ध्यान मनसा-वाचा-कर्मणा सत्य रूप एक आत्मा में एकाग्र करने से, इन्द्रियों की लिप्साओं से बचा जा सकता है। ऐसे ही व्यक्ति को बुद्धि स्थिर होती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥

विषयों को चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है और आसक्ति से (उन विषयों की) कामना उत्पन्न होतो है (और) कामना से क्रोध उत्पन्न होता है ।

हे अर्जुन ! मन सहित इन्द्रियों को वश में करके मेरे परायण अर्थात् आत्मपरा न होने से मन के द्वारा विषयों का चिन्तन स्वाभाविक होता है और विषयों का चिन्तन करने से उन–उन विषयों में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है तथा उनकी भौतिक शान्ति के लिये मन, बुद्धि विचलित हो उठते हैं । उनकी तृप्ति न होने से क्रोध उत्पन्न होता है । तृप्ति क्यों नहीं होती ? इसलिये कि कामनाओं का पेट कभी भरता नहीं हैं । जितना तृप्ति का प्रयास किया जाये भूख उतनी ही बढ़ती चली जाती है । इसलिये इन्द्रियों की वासनाएँ सदा अतृप्त रहती हैं । तब इन्द्रियों की लिप्साओं की तृप्ति का उपाय क्या है ? उनसे मनसा-वाचा-कर्मणा विरक्त, उनके चिन्तन से सर्वथा मुक्त होकर, चिन्तन की दशा को अन्तर्मुखी करके, नित्य सनातन आत्मा माधव में स्थापित हो जाना ।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धि नाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। ६३ ।।

क्रोध से अविवेक उत्पन्न होता है और अविवेक से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि के नाश होने से (यह पुरुष) अपने श्रेय साधन से गिर जाता है ।

इसलिये इन्द्रियों और मन को साधने के साथ-साथ बुद्धि का अचल, अटल होकर आत्मा में स्थित होना परमावश्यक है ।

रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्म वश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। ६४ ।।

परन्तु आत्माधीन अन्तःकरण वाला (पुरुष) राग––द्वेष से रहित, आत्मा के वश में की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों को भोगता हुआ अन्तः करण की प्रसन्नता अर्थात् स्वच्छता को प्राप्त होता है ।

आत्म स्थित व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों को किस प्रकार भोगता है ? केवल आत्म-यज्ञ हेतु ही निर्लिप्त भाव से उनका प्रयोग करता है । जैसे शरीर की रक्षा हेतु उचित भोजन, न कि जिह्वा के स्वाद के लिये अनुचित भोजन । शरीर मन्दिर की रक्षा के

लिये स्वच्छता तथा आत्म प्रेरित आत्म हेतु अन्य इन्द्रियोचित कार्य। यहां लिप्साओं, आकांक्षाओं का सर्वथा त्याग है। आत्मा में सदा स्थित रहने से आत्म हेतु का प्रयोग है। इसलिये यहां इन्द्रियों के विषयों का भी विषयान्तर है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥ ६५॥

(और उस) निर्मलता के होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है (और उस) प्रसन्नचित वाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र हो अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती है।

क्योंकि इन्द्रियों के विषयों में लिप्त नहीं है इसलिये क्रोध और अविवेक होने का प्रश्न नहीं उठता है। ऐसे समत्वबुद्धि आत्मपरायण योगी को सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है तथा नित्य आत्मा में स्थित होने से आत्मानन्द की प्राप्त हो मस्त, निश्चिन्त एवं उन्मुक्त हुआ आत्मा में ही सदा के लिये स्थित हो जाता है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिशान्तस्य कुतः सुखम्॥ ६६॥

योगरहित पुरुष के श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और योगरहित पुरुष के आस्तिक भाव भाव भी नहीं होता है (और) बिना आस्तिक भाव वाले पुरुष को शान्ति भी नहीं होती है (फिर) शान्तिरहित पुरुष को सुख कैसे हो सकता है।

हे अर्जुन ! जो व्यक्ति आत्मा से योग नहीं करता है उसकी बुद्धि, मन और इन्द्रियों के विषयों में भटकतो रहती है इससे वह बुद्धि अपनी श्रेष्ठता को खो बैठती है। योग-रहित पुरुष के, इन्द्रियों के विषयों में हो भटकते रहने से आस्तिकता का भाव नहीं रहता है। आत्मा के प्रति उसको आस्था नही रहती है और इन्द्रियों के मार्ग से बाहर ही बाहर भटकता रहता है। बहिर्मुखी को शन्ति कहाँ ? क्योंकि वह तो अतृप्त विषयों की सदा अतृप्त रहने वाली भूख को मिटाने का असफल प्रयास करता रहता है। ऐसे अतृप्त, अशान्त को सुख कहाँ ?

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ६७॥

क्योंकि जल में वायु नाव को जैसे (हर लेता है वैसे ही विषयों में) विचरती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस (इन्द्रिय) के साथ मन रहता है। वह (एक ही इन्द्रिय) उस (योगरहित) पुरुष की बुद्धि को हरण कर लेती है।

इसलिये हे पार्थ ! दस इन्द्रियों रुपी दस फन वाले कालिया नाग के दसों फन भयंकर विषैले हैं। तू दसों को ही नथ और योगी हो। कहने का तात्पर्य है कि एक ही लिप्सा सम्पूर्ण खेल को नष्ट करने में समर्थ है क्योंकि चिन्तन यदि एक भी इन्द्रिय की लिप्सा के लिये बहिर्मुखी हो गया तो उस इन्द्रिय की कभी न मिटने वाली भूख में फंस, इस माया महासागर में सदा के लिये डूब गया।

कुछ मित्र शब्दों के अर्थ भी गलत करते हैं, जैसे ब्रह्मचारी का अर्थ अविवाहित से लगाते हैं! यदि एक ही इन्द्रिय के दमन से व्यक्ति ब्रह्मचारी हो जाता तो सारे हिजड़े स्वर्ग के अधिकारी हो जाते और उनके सात कुल तर जाते। तब ब्रह्मचारी कौन है ? जो दस इन्द्रियो को 'रथ' कर 'दशरथ' हो गया और ब्रह्म के मार्ग का आचरण करने, अन्र्मुखी हो सदा के लिये आत्मा में स्थित हो गया—सो ब्रह्मचारो है। भोजनभट्ट कभी ब्रह्मचारी नहो होता, क्योंकि जिसका मन एक भी इन्द्रिय की लिप्सा के साथ जुड़ा है, उस योगरहितपुरुष की स्थिति उपरोक्त श्लोक में स्पष्ट कर दी है।

इसलिये सत्य रुप योगो वहो है जो पूर्णरुपेण अन्तर्मुखी है तथा वाह्य जगत से पूर्ण विरक्त है। इन्द्रियों को आसक्ति किसो प्रकार की भी नहीं है उसको।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थे भ्यस्तस्य प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

इससे हे महाबाहो ! जिस पुरूष की इन्द्रियां सब प्रकार इन्द्रियों के बिषयों से वश में की हुई होतो हैं उसकीं बुद्धि स्थिर होती है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने ॥ ६९ ॥

सम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिए जो रात्रि है उस नित्य शुद्ध बोध स्वरुप आत्मानन्द में स्थित यो ी पुरूष जागता है और जिस नाशवान क्षणभंगुर सांसारिक सुख में सब भूत-प्राणी जागते हैं तत्व को जानने वाले योगी के लिये वह रात्रि है।

स्पष्ट करते हैं। आत्मानन्द में स्थित सत्य को जानने वाले योगी का दिन कहाँ है ? जहाँ सूर्य है। सूर्य कहाँ है ? जहाँ प्रकाश है। प्रकाश कहाँ है ? जहाँ सहस्त्रों सूर्यों को तेज देने वाला आत्मा माधव है। सो कैसे ?

यूँ कि आत्मा सूर्य के शरीर त्यागते ही वाह्य सूर्य का भी प्रकाश (उस मृतक के लिए) समाप्त हो जाता है। यदि बाहर का सूर्य स्वयं प्रकाशित होता तो आत्मा सूर्य के हटते भी मुर्दे की आंख को रोशनी भासती। परन्तु आत्मा सूर्य के शरीर से हटते ही वाह्य सहस्त्र-सहस्त्र सूर्य क्यों न प्रकाशित हो मुर्दे की आंख को रोशनी नहीं भासती, उसे कुछ भी नहीं दिखायी पड़ता। तब उसके लिए आत्मा सूर्य तो असख्यों सूर्यों से भी परम हुआ।

इसलिए तत्वज्ञानी का सूर्य कहाँ है ? वह तो आत्मा है जो भीतर है, जिसके प्रकाश से प्रकाशित वाह्य जगत का सूर्य है, जैसे शीशे पर प्रकाश पड़ने से शीशा जगमग होने लगता है और प्रकाश के बुझते ही शीशे का प्रकाश भी समाप्त हो जाता है ; उसी प्रकार आत्मा सूर्य के हटते ही मेरे लिए वाह्य जगत के सम्पूर्ण प्रकाश गहन अन्धकार में बदल जाते हैं। तो असली सूर्य तो आत्मा हुआ और वाह्य सूर्य कांच का शीशा मात्र !

इसलिए तत्व ज्ञानी आत्मा ही को सूर्य जानता है तथा अपने प्रकाश मय अन्तःकरण में ही जागता है।

तत्वज्ञानी की रात्रि कहाँ है ? सम्पूर्ण वाह्य जगत। सो कैसे ? तत्वज्ञानी जानता है कि यदि बाहर प्रकाश होता तो मैं आत्मा रूपी लालटेन के बिना भी वाह्य जगत को देख सकता परन्तु आत्मा रूपी प्रकाश के हटते ही बहार अन्धकार हो जाता है। स्पष्ट है कि बाहर गहन अन्धकार है। इसलिये तत्वज्ञानी आत्मा सूर्य के प्रकाश में भीतर जागता है और वाह्य जगत से पूर्ण विरक्त हो सोता है।

इसके विपरोत सकामी भूतप्राणी अन्तर से अन्धे हो वाह्य जगत में जागते हैं तथा उनके भीतर गहन अन्धकारमयी रात्रि व्याप्त रहती है। बाहर ही उनका मकान, दुकान, पुत्र, पत्नी, माता-पिता हैं ; जबकि तत्वज्ञानी के भीतर ही स्वजन हैं और बाहर तो कौरव हैं।

इस प्रकार जहां तत्वज्ञानो का दिन है वहाँ सम्पूर्ण भूत प्राणियों की रात्रि है तथा जिस दिन में सम्पूर्ण भूत प्राणो जागते हैं तत्व ज्ञानी उससे सर्वथा विरक्त, विमुख, रात्रि सम जानता है।

इस प्रकार भीतर दिन तत्व ज्ञानी का और वाह्य माया-जगत गहन रात्रि हुई। सकामी भूतप्राणियों का वाह्य जगत दिन हुआ और भीतर गहन रात्रि हुई।

इसलिए हे अर्जुन ! वाह्य-जगत रूपी मिथ्या रात्रि के रूपहले स्वप्नों को त्याग। यहां न कोई मित्र-सखा, सम्बन्धी है न माँ-बाप, बहन-भाई, है, यह सब तो गहन रात्रि के भ्रमात्मक स्वप्न मात्र हैं। भीतर चल और सूर्य के ज्योतिमय प्रकाश में देख तेरे सम्पूर्ण स्वजन बैठे हैं भीतर ! उन्हें पहचान और वाह्य जगत के भ्रमात्मक साये झटक दे।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत ।

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे

स शान्तिमाप्नोति न कामी ॥७०॥

जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति नाना नदियों के जल (उसको चलायमान न करते हुए ही) समा जाते हैं वैसे ही जिस (स्थिर बुद्धि) पुरूष के प्रति सम्पूर्ण योग (किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये विना ही)समा जाते हैं वह (पुरुष) परम शाँति को प्राप्त होता है न कि भोगो को चाहने वाला। इसलिए हे अर्जुन! भोगों सांसारिक सुखों तथा, स्वजनादिक सुखों को त्याग कर स्थिर बुद्धि, परम् योगी हो।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।

निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

जो पुरूष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित, अहंकाररहित और स्पृहारहित हुआ वर्तता है वह शाँति को प्राप्त होता है।

इसलिए हे अर्जुन ! निर्मम, अहंकार रहित तथा सम्पूर्ण प्रकार की लिप्साओं से रहित होकर, यज्ञोपवीत के गाण्डीव को धारण कर और निर्ममता पूर्वक वाह्य जगत के प्रियजन, स्वजन, दुर्जन को मारता हुआ अर्न्तमुखी हो योग में स्थापित हो जा। यही प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का मात्र लक्ष्य है ; अन्यथा उसका जीवन भ्रम,लिप्साओं में पड़कर तथाकथित कर्म-कर्त्तव्य से स्वयं को अन्धा कर, अन्ध योनियों में पाप की, भटकने-भटकाने के लिए है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वाऽस्यामन्त कालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है इसको प्राप्त होकर मोहित नहीं होता है (और) अन्तकाल में भी इस निष्ठा में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है ।

इस प्रकार हे परम दिव्य भक्तगण ! हमारी नाव साँख्य की पवित्र ज्ञानमयी धाराओं से अठखेलियाँ कर योग की, पावन गंगा की सत्य रुपी धाराओं की तरंगों पर झूमती-इठलाती आगे बढ़ आयी है । भाग्यहीन होगा जिसने इस अमर जल के सामीप्य और सानिध्य को खो दिया और पुनः अज्ञानमय, माया-रूप छलावे मात्र, वाह्य जगत की भ्रान्तियों रूपी कीचड़ में, पवित्र किये हुये शरीरों को पुनः मैला करने चल दिया ।

झूम-झूम कर गाओ गीता और रोम-रोममें लिखते चलो सत्य इसका । दुहराते चलो पुनः पुनः । रस्सी की रगड़ से पत्थर पर लकीर पड़ती है तो इसका प्रभाव तो मन बुद्धि पर निश्चित पड़ेगा ही । साक्षात् परब्रह्मम् के श्री मुख से प्रकट हुई पावन सत्य की मोक्षमयी गंगा में तन-मन बुद्धि सींच लो । नहला के इन्द्रियों को, करके पवित्र, निर्ममता पूर्वक बाँध दो ! फिर चलो भीतर ! जय हो तुम्हारी !

गोविन्द हरि !

हरि ॐ ! नारायण हरि !

हरि ॐ ! नारायण हरि !

श्रीमद्भगवत्गीता

दिव्य दर्शन

तृतीयोऽध्यायः

हे भक्त महान ! मधुसूदन माधव गोपाल के प्रिय सखाओ ! हमारी नाव झूमती-इठलाती श्रीमद्भगवद्गीता रूपी पावन पुनीत अमृततुल्य गंगा के तीसरे चरण में प्रवेश कर रही है। श्रीमद्भगवद्गीता का तीसरा अध्याय---माया महासमर रूपी महाभारत का तीसरा दिन !

हम सब सखा हैं ! मित्र हैं ! एक ही नाव के सहयात्री हैं ! हममें न कोई बड़ा है, न छोटा है। न गुरू का गुरूत्व है, न चेला का संकोच है।

अहो ! भूमण्डलों का अधिपति, सृष्टा स्वयं जब ग्वालों का सखा बनता है; साम्य की मधुर झंकृत सुवासित वायु लहरी बहता है तो हम कैसे छोटे-बड़े का स्वांग भर सकते हैं। हम तो मस्त ग्वाले हैं। हम सखा हैं उनके ! वह सखा है हमारा !

यहाँ न कोई हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई का भेदभाव है न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का ऊंच-नीच है; न मराठी, हिन्दी, पंजाबी, मद्रासी, रूसी, अंग्रेजी, डच, जापानी, चीनी का वैमनस्य है। संसार पीछे छूट गया है। हम बहुत आगे बढ़ आये हैं। एक सत्य ही सम्मुख है हमारे ! एक सत्य नित्य सनातन आत्मा माधव का ! गोविन्द हरि ! गोविन्द हरि !

चली है नैया हम मतवालों की खिवैया सखा गोपाल है ! आनन्द ही आनन्द, मस्त-झूमते, निश्चिन्तता, उन्मुक्तता के क्षण---सन्देह, आतंक ईर्ष्या, द्वेष, राग, भय, लिप्साओं रूपी अन्धकार से दूर---बहुत दूर सत्य के सनातन सूर्य के नित्य प्रकाश में ! गोपाल हरि ! गोपाल हरि !

सांख्य और निष्काम कमयोग रूपी दो धाराओं में फंस गया है अर्जुन। एक धारा है सांख्य रूपी नित्य ज्ञान की----दूसरी है समत्व बुद्धि योग रूपी अनासक्त निष्काम कर्म की।

अर्जन को उत्सुकता है कि दो में से कौन सा मार्ग चुने ? माधव स्पष्ट करते हैं कि दोनों की भिन्नता में भी अभिन्न अभिन्नता है । दोनों लहरें कहीं दूर हो जाती हैं कहीं समीप होकर लोट-पोट होने लगतो हैं, पुनः छितरा कर अलग-अलग बहने लगती हैं और फिर एक धारा बनकर बहने लगीं । आइये बहें संग कर्मयोग की धारा पर ।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मरणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मरिण घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

अर्जुन ने पूछाः–हे जनार्दन यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञाम आपके श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव ! मुझ भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं ।

व्यामिश्रे रणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

मिले हुए से वचन से मेरी बुद्धि को मोहित सी करते हैं (इसलिये हे माधव) उस एक बात को निश्चय करके कहिये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ ।

इन श्लोकों को स्पष्ट करने हेतु आइये चले युगों को लांघते श्रीमद्भगवद्गीता के युग में जहाँ प्रत्येक सांसारिक कृत्य से पूर्व आध्यात्म को चेतावनी रूप में लीला में दर्शाया जाता था ।

श्रीमद्भगवद्गीता को लोला रूप में, प्रत्येक संस्कार में करते थे । उपनयन हो, विवाह हो अथवा सन्तानोत्पत्ति, जन्म अथवा मृत्यु–––सभी में गोता की मंच लीला अवश्य होतो थी तथा प्रत्येक सामयिक प्रश्न का उत्तर इस अमर लीला में रहता था ।

ऐसा इसलिये किया जाता था कि ग्रहस्थ, ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं सन्यास किसो भी आश्रम में प्रवेश पाता छात्र, सम्पूर्ण को लीला मात्र जानता एक सत्य के ही सम्मुख खड़ा रहे ; भटके अथवा फंसे नहीं ।

अर्जुन द्वारा पूछे गये प्रश्न प्रत्येक दशा में सामयिक, स्वाभाविक तथा अति महत्वपूर्ण हैं । उपरोक्त प्रश्न द्वारा ब्रह्मचर्य में प्रवेश पाता ब्रह्मचारी पूछता है कि यदि सांख्य ही मूल है तो मुझे कर्मकाण्ड तथा अन्य भौतिक ज्ञानार्जन रुपी कर्म में क्यों फंसाते हैं ?

गृहस्थ मे प्रवेश पाता युवक पूछता है कि यदि ज्ञान मार्ग ही महान है तो मुझे विवाह आदि सांसारिक कर्म में क्यों फंसाते हैं ?

वानप्रस्थी पूछता है कि जब सांख्य ही मूल है तथा मोक्ष को देने वाला है तो मुझे अन्य ज्ञान (वेद पाठ आदि)में कर्म से क्या प्रयोजन ?

इस प्रकार लीला रूप में पूछे गये प्रत्येक प्रश्न को प्रत्येक दशा में सामयिक जानना चाहिए तथा महाप्रभु द्वारा दिये गये उत्तर को भी प्रत्येक दशा में सामयिक जानना चाहिये। मात्र एक भौतिक युद्ध की स्थिति में ही इनको जानने वाला कभी भी गीता के तत्व को नहीं पा सकता । युद्ध तो उदाहरणार्थ है मूल तो माया-महासमर रुपी महा-भारत है ।

इस प्रकार प्रत्येक स्थिति में स्थापित (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ) लक्ष्य-निर्णायक बुद्धि रूपी अर्जुन आत्मा रूपी कृष्ण से अन्तर्मुखी होकर पूछता है कि हे माधव ! कर्मों की अपेक्षा जब ज्ञान ही श्रेष्ठ है तो मुझे क्यों कर्म बन्धन में फंसाते हैं ?

श्रीभगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।३।।

श्री भगवान बोले--हे निष्पाप ! इस लोक में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले कही गई है । ज्ञानियों की ज्ञान योग से और सांसारिकों की निष्काम कर्मयोग से ।

सांख्य में स्पष्ट किया कि माया से उत्पन्न सम्पूर्ण गुण गुणों में बर्तते हैं, ऐसे समझकर तथा मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं के कर्त्तापन के अभिमान से रहित हो, सर्वव्यापी परमात्मा में एकीभाव से स्थित रहने तथा संसार सागर से पूर्ण रूपेण, मनसा-वाचा-कर्मणा त्यक्त रहने का नाम 'ज्ञान योग' अथवा 'सांख्य योग' है। इसको पूर्णता ही सन्यास है जिसका मात्र स्वाभाविक लक्ष्य मोक्ष है ।

समत्व बुद्धि योग अथवा निष्काम कर्म योग अथवा अनासक्त कर्मयोग, समत्व योग, बुद्धि योग, कर्म योग, तदर्थ कर्म योग, मदर्थ कर्म योग, मत्कर्म आदि एक ही योग के

पर्यायवाची हैं तथा शाब्दिक हेर-फेर के अतिरिक्त इनमें किसी प्रकार का भी अन्तर नहीं है। कालान्तर में साम्प्रदायिक गुरूओं ने इसके नाना नाम दिये जैसे नाद योग, सुरतियोग, नाम योग, जप योग, ध्यान योग--- ये सब योग न होकर मात्र समत्व बुद्धि योग तक पहुंचने के मार्ग हैं। इनको इस प्रकार कहना चाहिये सुरति मार्ग, ध्यान मार्ग, नाद मार्ग, जप मार्ग आदि।

पुनः इन सम्पूर्ण मार्गों एवं योग का स्वरूप अपनी पूर्णता में 'अधियज्ञ' योग में विलीन हो जाता है।

हे अर्जुन ! यज्ञों में मैं अधियज्ञ, सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हृदय में वास करने वाला आत्मा हूँ तथा तेरा मेरे में ही योग करना उचित है। इसलिये सर्व धर्मों अर्थात् सभी मार्गों को त्याग, अब एक मुझ आत्मा कृष्ण रूपी अधियज्ञ में योग द्वारा अद्वैत हो जा। इस प्रकार मूल योग अधियज्ञ योग है। इसे अट्ठारहवें अध्याय में स्पष्ट करेंगे। यहां स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान योग का तात्पर्य ज्ञान युक्त आत्ममार्ग ही तो हुआ। इस प्रकार निष्काम कर्म युक्त (योग) आत्म योग ही तो हुआ। आत्मा ही अधियज्ञ है; सो ही इस शरीर में ईश्वर है, इस प्रकार अधियज्ञ योग ही मूल योग हैं। इसको साधारण भाषा में आत्म योग कह सकते हैं क्योंकि सब मार्गों का लक्ष्य आत्मज्ञान, आत्मकर्म से युक्त(योग)हो आत्म प्राप्ति का है। इससे स्वतः स्पष्ट हैं कि आत्म योग अथवा अधियज्ञ योग ही मूल है। जिसका एक मार्ग, ज्ञान से युक्त होकर पाने का है तो दूसरा, निष्कर्म रूप बुद्धि में युक्त होकर आत्म प्राप्ती का है।

इस प्रकार इन मार्गों की भिन्नता में भी पूर्ण अभिन्नता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।४।।

मनुष्य न तो कर्मों के न करने से निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों को त्यागने मात्र से सिद्धि को प्राप्त होता है।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।५।।

क्योंकि कोई भी पुरूष किसी काल में क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है निःसन्देह सब, प्रकृति से उत्पन्न हुए, गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

उपरोक्त श्लोकों से भी स्पष्ट है कि ज्ञान योग अथवा समत्व बुद्धि योग, दोनों में ही कर्म तो करना ही पड़ता है। दूसरी बात जो स्पष्ट होती है कि समत्व बुद्धि, ज्ञान योग के बिना सम्भव कहाँ है ? जिसे सांख्य ज्ञान ही नहीं, वह निष्काम कर्म योगी बनेगा कैसे ? इससे भी सिद्ध होता है कि दोनों मार्गों कि भिन्नता में भी अभिन्नता है।

साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि किसी भी मार्ग में कर्म को कर्म से त्यागना न उचित है और न ही सम्भव है।

परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं लगाना चाहिये कि यहाँ एक साँसारिक कर्म में फंसे व्यक्ति तथा योगी में अन्तर नहीं है। यहां कर्म शब्द तथा उसका प्रयोग उस महारथी के लिए है जो सबको मारकर भीतर जा रहा है। यहाँ कर्मों का अर्थ प्राकृतिक सहज कर्म हैं न कि मिथ्या संसार के तथाकथित सेवा कर्म। जो दाने-दाने के मोहताज हैं, वे परिवार पोषण का दावा करते हैं सो किसी प्रकार भी निष्काम कर्म नहीं है, समत्व बुद्धि योग में ही आते हैं। बहुत से विद्वान मूलधारा अर्थात् अर्जुन के युद्ध और लक्ष्य को भूल, सांसारिक कर्म का अर्थ लगाने लगते हैं। यह असत्य है। क्योंकि संसार सागर में तब तक यह असत्य है जब तक वह व्यक्ति इसको (समत्व बुद्धि योग) पूर्णतः को प्राप्त नही होता। अर्थात् जब तक वह वानप्रस्थी हो संन्यास को नहीं प्राप्त होता, उसका स्वयं को अनाशक्त कहना अथवा मानना नितान्त मिथ्या है।

इसलिए सांसारिकता में भी यदि कोई योगी है और यज्ञ मात्र के लिए प्रकृतिवश संसार में फंसा है परन्तु समत्व बुद्धि योग से युक्त है तो वह जानता है कि पत्नी लीला मात्र है तो उसके लिए वह रूकेगा नहीं। सन्तान यज्ञ मात्र, यज्ञ के लिए है तथा यह उसी को है जिसने इसे बनाया मैं तो एक बूंद रक्त की नहीं बना सकता, तो वह सन्तान के लिए भी निश्चिन्त है अतः रुकेगा नहीं। वह जानता है कि दाना-दाना भीख मांगकर खा रहा हूँ तो भरण - पोषण के लिए भी रूकेगा नहीं ——वरन् यज्ञ हेतु सम्पूर्ण कर्म करता समत्व बुद्धि योग द्वारा तत्क्षण वानप्रस्थी हो, सन्यासी हो जावेगा। जो बन्धु ऐसा नहीं करते हैं वे समत्व बुद्धि का नाटक करने वाले हैं। वे न तो स्वयं को जानते हैं और न लिप्साओं से ऊपर उठने को प्रयत्नशील ही हैं। क्या उनका नारा कि मैं घर बैठा निष्काम कर्म कर रहा हूँ उनके अहम् (मैं कर रहा हूँ) का भ्राँतिपूर्ण आत्मद्रोह नहीं है ?

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

जो आत्मविपरीत कर्मेन्द्रियों को (हठ से) रोक कर इन्द्रियों की लिप्साओं को मन से चिन्तन करता है वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।

जो व्यक्ति केवल कर्म से ही कर्म को त्यागकर सन्यास को धारण करते हैं वे भी मिथ्याचारी हैं। क्योंकि जिसने कर्म को तो कर्म से त्याग दिया और वृत्तियों को मनसा वाचा-कर्मणा अन्तर्मुखी कर न सका उसने प्रभु का मार्ग पाया ही कब ? ऐसे दम्भी को भी समत्वबुद्धि योग अथवा निष्काम कर्मयोग युक्त योगी नहीं जानना चाहिए क्योंकि यह तो उस गृहस्थ से भी कहीं अधिक निकृष्ट कोटि का पापी है।

हे भक्त समुदाय ! आपका मैं परम भक्त हूँ। एक गृहस्थ का भी मैं परम भक्त हूँ शब्दों को कटुता से आप कृपया ऐसा न जानें कि यह भक्त जो एक सांसारिक की चरण रज को भाल तिलक जानता है; किसी प्रकार से भी किसी मनुष्य मात्र को ठेस लगाना अथवा नीचा दिखाना चाहता है। मैं तो प्राणी मात्र का, आत्मा मात्र का भक्त हूँ। आप सब मेरे पूज्य हैं। यह भाष्य, कर्म के हेतु जैसे महाप्रभु ने कहा वही, कह रहा हूँ मैं शब्दों का कड़ापन नींव की ईटों की मजबूती है ऐसा जानियेगा। लेकर ठोकर इन सख्त शब्दो से जाग जाओ रे सखाओ ! जय हो तुम्हारी !

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥७॥

और हे अर्जुन ! जो मनसा अर्थात् मन से इन्द्रियो को वश में करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।

तब फिर सत्य रूप योगी कौन है ? जो इन्द्रियों को वश में करके मनसा-वाचा कर्मणा अनासक्त हो गया है सो ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य से सन्यास में प्रवेश करे अथवा मन एवं इन्द्रियों को मनसा-वाचा-कर्मणा लिप्साओ से हटाता नित्य सनातन आत्मा में ही वास करता---सांसारिक कर्म को केवल यज्ञ के हेतु ही करता---कर्तापन के पूर्ण अभाव को प्राप्त होता---सर्वत्र उसी को देखता हुआ, उसके अतिरिक्त किसी को भौतिक नाम गुण से न जानता हुआ---केवल आत्मा में स्थापित हुआ---सन्यास में प्रवेश करे वही योगी।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।।८।।

तू "शास्त्र विधि से नियत किये कर्म को कर क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तेरा शरीर निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा ।

इसलिये तू पूर्व के बताये हुये (पिछले अध्यायों में) शास्त्र सम्मत मत से आत्म हेतु कर्म को करता यज्ञोपवीत का गाण्डीव धारण कर क्योंकि ऐसा न करने से शरीर रूपी सामिग्री को यज्ञ करने में समर्थ न हो सकेगा और यह शरीर, यज्ञ के पूर्व यात्रा में ही, लिप्साओं, चिन्ताओं तथा सांसारिक कर्म-फल-भोग रूपी बाधाओं द्वारा नष्ट कर दिया जावेगा । इसलिये इस शरीर के निर्वाह हेतु तू मस्त, निश्चिन्त उन्मुक्त होता, मृत्यु रूपी इन्द्रियों की लिप्साओं से त्यक्त होता, रोग रूपी मन की चंचलता को बांधता, बुद्धि को आत्म-कुण्ड में लय करता आत्मा के साथ अद्वैत कर, अमर हो जाये तो शरीर निर्वाह पूर्ण हो ।

इस श्लोक में शरीर निर्वाह का बहुत से विद्वानों ने अर्थ व्यापार आदि से लगाया है जो नितान्त गलत है । वे महानुभाव यह भूल जाते हैं कि यह योग की तथा नित्य सत्य कि पुस्तक है । आज तक कोई भी बुद्धि, दाना गेहूँ का भस्मी से बना नहीं सका ; बूंद रक्त की, भोजन से बना नहीं सका ; तो उसने अपना शरीर निर्वाह धन्धे अथवा व्यवसाय से कब किया ? इससे तो सिद्ध है कि अतिरिक्त आत्मा माधव के कोई भी बुद्धि रूपी अर्जुन किसी भी शरीर का भौतिक निर्वाह नहीं कर सका । तब क्या महा प्रभु भौतिक धन्धा जैसे माया के भ्रम की ओर संकेत करेगें ?

यहां शरीर निर्वाह से अर्थ शरीर यात्रा को सामिग्री रूप, आत्मा की यज्ञाग्नियों में लय करना है अन्यथा यात्रा अपूर्ण रहेगी । इसलिए आत्म हेतु, आत्म यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त किसी अन्य कर्म की मान्यता नहीं है ।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।।९।।

यज्ञ के निमित्त कर्म के सिवाय अन्य कर्म में यह मनुष्य कर्मों द्वारा बँधता है इसलिए हे अर्जुन ! आसक्ति से रहित हुआ उस यज्ञ के निमित्त कर्म का भली प्रकार आचरण कर ।

(यज्ञ क्या है ? यज्ञ के निमित्त कर्म क्या हैं ? इसका सम्पूर्ण विस्तार तो यहाँ सम्भव नहीं होगा। भक्त समुदाय से प्रार्थना है कि इसका विस्तार 'सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि' में विशेषकर पाँचवें तथा छठे अध्याय में देखें ! यहां संक्षिप्त रूप से इसका परिचय देते हैं।)

भस्मियों का, वृक्ष—पौधों के गर्भ में यज्ञ के द्वारा सुन्दर वनस्पतियों में बदल जाना, वनस्पतियों का, भोजन स्वरुप में ग्रहण किया जाकर आत्म-कुण्ड द्वारा यज्ञ की प्रक्रिया से रक्त, मांस में बदल जाना——रक्त मांस का यज्ञ द्वारा शरीर रूप धारण कर लेना, शरीर सामिग्री का आत्मा-हवन-कुण्ड में यज्ञ होकर अमरत्व को धारण करना आदि यज्ञ हैं। सूक्ष्म बिन्दुओं का तेज में परिणित हो क्षीरसागर (Space) में जाकर पुनः उल्काओं, ग्रहों, नक्षत्रों में बदल जाना 'यज्ञ' है। इस प्रकार संक्षेप में यज्ञ बताये। इसी के प्रतीकात्मक यज्ञ (समिधाओं और घृत सामिग्री द्वारा) भी यज्ञ हैं। आत्मा ही यज्ञ-कुण्ड कृष्णा: है। ब्रह्म ही सामिग्री है जो सर्वत्र है तथा पशुपताग्नि द्वारा तेज में बदलने की क्रिया ही रुद्र है। तेज का (वृक्ष, मनुष्य, पशु, पक्षी, गगन) क्षीरसागर में पुनर्सृजन द्वारा यथारूप धारण करना ही विष्णु क्रिया है।

इन्हीं यज्ञों के निमित्त, निष्काम भाव से किये गये कर्म, यज्ञ निमित्त हैं—जैसे शरीर में स्थापित आत्मा को यज्ञार्थ भोजन सामिग्रीवत् अर्पित करना न कि स्वाद और लिप्साओं के लिए पाप को खाना। नूतन वनस्पतियों की सृष्टि में यज्ञार्थ सहायक बनना, यथा बीजों को बोना, पौधे की निराई, बुआई, सेवा आत्म यज्ञार्थ करना ही यज्ञ के निमित्त कर्म हैं। सन्तान की उत्पत्ति हेतु ही पत्नी से संयोग करना जिससे देवों अर्थात् आत्माओं की वृद्धि शरीरों में हो, यज्ञ के निमित्त कर्म हैं परन्तु लिप्साओं की पूर्ति के लिये यही कर्म अति निकृष्ट कोटि का पाप है। शरीर को स्वस्थ रखना, आत्म यज्ञार्थ पूजा, हवन, प्रतीकात्मक यज्ञ करना, जप, तप, ध्यान, समाधि करना यज्ञ के निमित्त कार्य हैं।

यह कहना कि विष्णु ही यज्ञ है अधूरा वाक्य लगता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, (अ+उ+ म्) रुपी ॐ ही यज्ञ है यह पूर्ण वाक्य है।

इसलिए हे पार्थ ! हे सखा ! तू मात्र यज्ञ के निमित्त ही कर्म को करे क्योंकि यज्ञ के अलावा कर्म में तो मनुष्य कर्म-फल-भोग के बन्धनों में बंध कर जन्म-मृत्यु रूपी तथा नाना

अन्ध योनियों के जन्म-जन्मान्तरों में फंसता है। इसलिये अनासक्त हुआ मात्र आत्मा के निमित्त ही कर्म कर।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

प्रजापति ने कल्प के आदि मे यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा (तुम सब) वृद्धि को प्राप्त होवो। यह अज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं का देने वाला होवे।

हे अर्जुन! कर्म (यज्ञ के निमित्त) न करने से तू पाप को भी प्राप्त होगा क्योंकि स्वयं परमात्मा ने कल्प के आदि में यज्ञ सहित अर्थात् निरन्तर यज्ञों द्वारा वृद्धि को प्राप्त होने वाली प्रजा (जैसे मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, पौधे, कीट आदि) को रचकर तथा उन्हें इस यज्ञ का परम् ज्ञान देकर कहा कि इस यज्ञ के निमित्त कर्म करते हुए (अर्थात् वनस्पति पशु-पक्षियों आदि की वृद्धि तथा सन्तान आदि की वृद्धि यज्ञों को यज्ञ के निमित्त कर्म करते हुए) तुम निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होवो तथा यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं को देने वाला होवे अर्थात् वृद्धि को प्राप्त कराने वाला अर्थात् मोक्ष दिलाने वाला होवे।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥

इस यज्ञ द्वारा देवताओं की उन्नति करो और वे देवता लोग तुम लोगों की उन्नति करें, इस प्रकार आपस में (यज्ञार्थ निमित्त कर्त्तव्य समझ कर) उन्नति करते हुये परम कल्याण (मोक्ष) को प्राप्त होवेंगे।

स्पष्ट किया कि इस प्रकार तुम निरन्तर वनस्पतियों को बढाओ जिससे देव अर्थात् आत्मायें इस भूमण्डल पर यज्ञार्थ प्रकट होकर निरन्तर इस भूमण्डल के वानस्पत-जन-जीवन को उन्नत प्रदान करें। पशु और पक्षियों की रक्षा करो तथा उनकी सन्तति को बढ़ाने में यज्ञार्थ सब कर्म करो जिससे देव अर्थात् आत्मायें उन नये शरीरों को यज्ञ हेतु ग्रहण करने के लिये अवतरित हों। सन्तान आदि को आवश्यक उत्पत्ति में यज्ञार्थ कर्म करो जिससे नूतन शिशु रूपी मन्दिरों में यज्ञ हेतु देवों अर्थात् आत्माओं का आवाहन हो सके।

जप, तप, यज्ञ, योग, समाधि आदि की ओर प्रवृत्त होवो जिससे देव अर्थात् आत्मा को कृपा से उन्नति अर्थात् मोक्ष लक्ष्य को धारण कर सको।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तान प्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

यज्ञ द्वारा बढ़ाये हुए देवता लोग तुम्हारे प्रिय भोगों को देंगे उनके द्वारा दिये हुए भोगों को जो पुरुष इनके लिये बिना दिये ही भोगता है वह निश्चय ही चोर है।

इस प्रकार यज्ञों द्वारा बढ़ाये हुये देवता अर्थात् आत्मायें यज्ञों द्वारा तुम्हारे बिना मांगे ही इच्छित भोगों को देंगी। इनके द्वारा दिये हुये भोगों को इनके लिये बिना दिये ही जो भोगता है वह निश्चय ही चोर है अर्थात् अधम पापी है।

इसलिये भोगों को जब ग्रहण करो तो यज्ञ के निमित्त बाँट कर ग्रहण करो। अन्न को ग्रहण करने से पूर्व अन्न की उत्पत्ति हेतु नूतन वृक्ष पौधों आदि की नित्य उत्पत्ति हेतु सम्पूर्ण कर्म करो (अर्थात् नये बीजों को रोपना, पौधों की सेवा करना, नये वृक्षों को लगाना आदि) तथा यज्ञ के निमित्त उन भोगों को (अन्य लोगों को अर्थात् भोजन बाँटकर खाना, निर्मित्त वस्त्रादिक को पहले दान आदि करके तभी ग्रहण करना) यज्ञ के निमित्त कर्म करते हुए ही ग्रहण करो अन्यथा पाप को ग्रहण करने वाले बनोगे।

क्यों बाँट कर खाओ? इसलिये कि जो भी अन्न भोगादिक यज्ञों से उत्पन्न हुये हैं उन्हें तुमको देने के लिये स्वयं आत्मा माधव ने यज्ञ किये हें। माधव तो सबका सखा है। इसलिये सभी का उस पर समान भाव से अधिकार होना चाहिये। इसलिये कुछ भी ग्रहण करने से पहले देखो कि कहीं कोई अभाव में उसके, तड़प तो नहीं रहा है। मिल बाँटकर खाओ तथा भविष्य को निधि रूप उसे पुनः उपजाते जाओ। तुमने जो भोजन भिक्षुक को दिया उसे उसने आत्मा-यज्ञ-कुण्ड को अर्पित कर दिया। इस प्रकार तुमने यज्ञ के अर्थात् आत्मा के निमित्त कर्म किया क्योंकि आत्मा ने ही वृक्ष-पौधों के क्षीरसागर में यज्ञ करके भस्मियों को. वनस्पतियों का स्वरूप प्रदान किया था। इसलिय दान आदि यज्ञ के हो निमित्त कर्म हैं, उनको त्यागने वाला पापी है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

यज्ञ से शेष बचे हुए अन्य को खाने वाले श्रेष्ठ पुरुष सब पापों से छूटते हैं (और) जो पापी लोग अपने (शरीर-पोषण) लिए ही पकाते हैं वे तो पाप को खाते हैं।

इसको पुन: स्पष्ट करते हैं कि जो यज्ञ के निमित्त दान, भविष्य के लिए पुन: उत्पत्ति हेतु, पशु पक्षियों के लिए आत्म यज्ञार्थ देकर उपरांत शेष को ग्रहण करता है वही उत्तम पुरुष है तथा उसी के लिए पापों से मुक्त होना सभंव है। क्योंकि वह सत्यनिष्ठ तो शेष को ग्रहण न कर, केवल आत्म यज्ञार्थ ही, निमित्त होकर आत्मा-यज्ञ-कुण्ड को अर्पित कर देता है। इसलिए उसका शेष को ग्रहण करना भी यज्ञ के निमित्त ही किया गया कर्म है।

इसलिये सत्यनिष्ठ मनुष्यों को चाहिये कि केवल आवश्यकता भर का संचय करें तथा अधिक को यज्ञ के निमित्त बाँटकर सखाभाव की, समता की, शीतल लहरी बहायें। धनार्जन करके, आवश्यकता से अधिक भोगादिकों को संग्रह कर, दूसरों को अभावग्रस्त करने वाला (मन्दिरों, धर्मशालाओं, गौशालाओं, का भी निर्माता क्यों न हो।) महापापी है तथा निश्चय ही अधम गति को जाने वाला है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥

सम्पूर्ण प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं (और) अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है (और वह) यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होने वाला है।

हे अर्जुन ! सम्पूर्ण प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। कैसे ? वही भस्मी चिता की, खाद बन गई। उस खाद को खींचा पेड़ों की जड़ों ने ; यज्ञ किये आत्माओं ने---यज्ञों द्वारा भस्मी लौट चली सुन्दर अन्नादिक मे। भोजन स्वरुप ग्रहण किया दम्पत्ति ने--यज्ञ किये आत्माओं ने ! भोजन रक्त-मांस के कणों में बदल--गर्भ में पुन: बालक (यथा गर्भ-योनि पशु-पक्षी आदि) बन बैठा। इस प्रकार, हे मनुष्य ! तेरी उत्पत्ति अन्न से होती है।

अन्न की उत्पत्ति वृष्टि से होती है। जल के बिना वानस्पत जीवन का संचार कहां ? और यह वृष्टि यज्ञ से ही होती है। कैसे ? जब तक वृक्ष-पौधे नहीं होंगे, पानी बरसेगा नहीं। मरुभूमि में जल कहां और सघन वन में वृष्टि का अभाव कहां। इसलिए जहां-जहां पेड़-पौधे रुपी मन्दिरों में यज्ञ निरन्तर है, वहां-वहाँ ही वृष्टि है।

यज्ञ कर्म के द्वारा ही उत्त्पन्न होने वाला है। स्पष्ट किया कि जब तक यज्ञ के निमित्त प्राणी कर्तव्य का पालन करते हुए नये वृक्ष पौधे नहीं लगावेंगे तो यज्ञ रहित भूमि पर वर्षा

होगी नही । वर्षा जब नहीं होगी तो अन्न की उत्पत्ति नहीं होगी । अन्न हो न उपजा तो भस्मियों में बदल गया पूर्वज तुम्हारा अन्न में लौटेगा नहीं तो उसका पुनर्जन्म मनुष्य रुप में होगा कैसे ?

इसलिए मनुष्यों को चाहिये कि नित्य नूतन वनस्पति की सृष्टि के लिए यज्ञ के निमित्त सहायक हों । ऐसा न करने वाले ही पापी हैं ।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। १५ ।।

कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान, वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है । ऐसा सर्वव्यापी अविनाशी सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है ।

कर्म की उत्पत्ति वेद से हुई है और वेद को स्वयं अविनाशी परमात्मा ने प्रकट किया है तथा ऐसा अविनाशी परम् तत्व सदा यज्ञ में स्थापित है इसलिए यज्ञ को आत्मा तथा परमात्मा का ही अंश रुप जान । इससे भी स्पष्ट है कि यज्ञ के निमित्त अर्थात् आत्मा के निमित्त कर्म ही कर्म है तथा अन्य कर्म मात्र माया का भ्रम है इसलिए तू केवल यज्ञ निमित्त ही कर्म को करे जिससे कर्म बंधन में न फंसता हुआ उस अविनाशी तत्व से अद्वैत कर सके।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।। १६ ।।

हे पाथ ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुये सृष्टिचक्र के अनुसार नहीं बर्तता है वह इन्द्रियों की लिप्साओं में रमण करने वाला पापआयु व्यर्थ ही जीता है ।

इस प्रकार यज्ञ के निमित्त कर्म को न कर तथाकथित परिवार, समाज, देश सेवा आदि कर्मों का स्वांग भर लिप्साओं द्वारा इन्द्रियों से ही चिपका रहने वाला मनुष्य तो व्यर्थ ही जीता है । उसके जोवन की एक मात्र उपलब्धि नाना पाप रूपी अन्धयोनियां ही हैं । वह तो केवल जन्मान्तरों के शुभ फलों को शेष कर पाप की गठरो ढोने मात्र के लिये इस मनुष्य योनि में प्रकट हुआ है । वह तो मनुष्य रूप में भी अधम पापी और अति निम्न तथा दीन है ।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।१७।।

परन्तु जो मनुष्य आत्मा ही में प्रीति वाला और आत्मा ही में तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट होवे उसके लिये कोई कर्त्तव्य नहीं।

परन्तु सांख्य अथवा समत्व बुद्धियोग द्वारा आत्मा से अद्वैत कर गये मुनि के लिये कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं है। वह तो आत्मा में ही नित्य स्थित है; आत्मा में ही नित्य तृप्त है तथा आत्मा के अतिरिक्त शेष वाह्य ज्ञान से मूढ़ हो गया है। उसकी नित्य समाधि को परम् स्थिति है तो उसके लिये कोई कर्त्तव्य बन्धन नहीं है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।

न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥ १८॥

इस संसार में उस पुरुष का (कर्म) किये जाने से भी प्रयोजन नहीं है और न किये जाने से भी कोई (प्रयोजन) नहीं है तथा इसका सम्पूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थ सम्बन्ध नहीं है।

स्पष्ट है कि आत्मा से अद्वैत हो जाने से वह तो प्रत्येक प्रकार के बन्धनों में मुक्त हो गया है। कर्म के करने न करने से उसका क्या प्रयोजन क्योंकि उसका चिन्तन तो आत्मा में स्थापित हो चुका है तो कर्म के चिन्तन से मुक्त व्यक्ति को किसी भी बन्धन की सुधि कहाँ? उसके सम्पूर्ण चिन्तन भी (एक आत्म चिन्तन के अतिरिक्त) शेष हो गये हैं। अब तो वह शरीर और आत्मा, प्रकृति और पुरुष के द्वैत के चिन्तन से भी मुक्त हो सम्पूर्ण अद्वैत के भाव में स्थापित हो चुका है। अब तो उसमें और ईश्वर में अन्तर रहा नहीं शेष है। इसलिये ऐसे नित्य योगेश्वर को किसी स्वार्थ से प्रयोजन नहीं है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः॥ १९॥

इससे तू अनासक्त हुआ निरन्तर कर्त्तव्य कर्म का अच्छी प्रकार आचरण कर क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही परम् को प्राप्त होता है।

इसलिये हे अर्जुन! तू अनासक्त भाव से कर्म करता हुआ योग की परम स्थिति को प्राप्त हो अर्थात् यज्ञ के निमित्त अनासक्त हो कर्म करता हुआ अन्तर्मुखी होता उस स्थिति को प्राप्त हो जो इससे पूर्व के श्लोक में परम् योगी के लिये कही है।

उठा यज्ञोपवीत का गाण्डीव, चढ़ा त्याग के बाण और काटता चल सम्पूर्ण माया रूपी भौतिक रिश्ते तथा उनके भ्रमात्मक चिन्तन। होकर विजयी, नथ कर नाग कालिया—— सदैव के लिये अन्तर्मुखी हो, योग की परम् स्थिति को प्राप्त हो जा।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

जनक आदि भी कर्म (यज्ञ निमित्त) द्वारा ही परम् सिद्धि को प्राप्त हुये हैं इसलिये (तथा) लोक संग्रह को देखता हुआ भी कर्म करने को ही योग्य है।

हे अर्जुन ! जनक आदि ज्ञानी जन भी यज्ञ के निमित्त अमासक्त कर्म द्वारा ही उपरोक्त योग की परम् स्थिति को प्राप्त हुये है तथा लोक कल्याण (अर्थात् यज्ञार्थ कर्म के द्वारा यज्ञों के सहायक होना जैसा कि प्रजापति ने कल्प के आदि में कहा) को देखते हुए तू भी केवल आत्म निमित्त कर्म करता मेंरे में स्थापित होता चले तथा सम्पूर्ण इन्द्रयोचिन नाते-रिश्ते तथाकथित मोह ओर कर्मपाश मे छूटता, आत्मा से अद्वैत करने हेतु परम् सिद्धि के लिये निरन्तर अन्तर्मुखी होता चले । यही उत्तम है। यही ज्ञान योग तथा समत्व बुद्धि योग का मूल है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥२१॥

श्रेष्ठ पुरूष जो आचरण करता है अन्य पुरूष (भी) उस उसके ही (अनुसार वर्तते-हैं) वह पुरूष जो कुछ प्रमाण कर देता है लोग (भी) उसके अनुसार बतंते हैं।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥२२॥

हे अर्जुन ! मुझे (यद्यिप) तीनों लोकों में कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा (किंचित-मात्र भी) प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है (तो भी में) कर्म में ही बर्तता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥

क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदाचित कर्म में न वर्तूं (तो) हे अर्जुन ! सब प्रकार से मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्तने लग जायें।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जायें और (मैं) संकर का करने वाला होऊँ (तथा इस सारी प्रजा का हनन करूँ।)

उपरोक्त श्लोकों में माधव ने स्पष्ट किया कि कर्म (यज्ञ निमित्त) करना ही उत्तम है। कब तक? जब तक तुम पूर्ण रूपेण आत्मस्थ न हो जाओ तथा पूर्णतः आत्मा में लीन न हो जाओ। आत्मा में योग हो जाने के बाद कर्म करने अथवा कर्म न करने के चिन्तन का विषय तुम्हारा नहीं है। तुम्हारा काम तो मात्र आत्म-चिन्तन का है। आत्मा जो कराये सो कराये।

साथ ही यह स्पष्ट किया कि मेरा अर्थात् आत्मा का कोई भी कर्म करने अथवा करने का कुछ भी न प्रयोजन होते हुए भी, मैं आत्मा सम्पूर्ण सृष्टि की रचना, रक्षा एवं निर्देशन हेतु आत्म रूप हो, निष्काम भाव से सम्पूर्ण सृष्टि को नित्य रचना का कर्म निरन्तर--एक से अनेक होकर करता हूँ। मैं ही भस्मी को, यज्ञ कर्म द्वारा सुन्दर वनस्पतियों का स्वरूप प्रदान करता हूँ। मैं ही उन्हें यज्ञ कर्म द्वारा नाना जीवधारियों का स्वरूप प्रदान करता हूँ। मैं हीं उन्हें शक्ति, सांस, धड़कन आदि यज्ञ कर्म द्वारा प्रदान करता हूँ। मैं ही बिन्दुओं को हिरण्यगर्भ (क्षीरसागर) में उल्काओं, ग्रहों, नक्षत्रों का स्वरूप प्रदान करता हूँ। ये सम्पूर्ण कर्म करने अथवा न करने से कोई भी प्रयोजन न होते हूए भी मैं ऐसा करता हूँ। यदि यह सब यज्ञ कर्म, मैं निष्काम भाव से न करुँ अर्थात् कर्म करना बन्द कर दूँ तो सम्पूर्ण सृष्टियां आत्माओं से रहित हो दुगन्ध को प्राप्त हों और नष्ट हो जायें।

इसलिए जब आत्मा स्वयं भी निष्काम भाव से यज्ञ कर्म को करता है तो तू भी जब तक सुधि है यज्ञ के निमित्त कर्म को करें तथा आत्मा में स्थित हो जावे तो आत्मा स्वयं जो अनासक्त भाव करावे, उसमें तेरा निमित्त चिन्तन भी न रहने से उस कर्म के होन अथवा न होने से तेरा क्या प्रयोजन ? तू तो एक चिन्तन --अत्मा में स्थित है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम् ॥२५॥

हे भारत ! कर्म में आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते हैं वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान भी लोक शिक्षा को चहता हुआ कर्म करे।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥

ज्ञानी पुरूष (को चाहिए कि) कर्मों में आसक्ति वाले अज्ञानियों की बुद्धि में अश्रद्धा न उत्पन्न करे (किन्तु स्वयं) आत्मयज्ञार्थ सर्व कर्मों को करता हुआ उनसे भी (लिप्सा-रहित आत्मयज्ञार्थ) कर्म करावे ।

उपरोक्त दोनों श्लोकों में भगवान मधुसूदन ने स्पष्ट किया कि सकामी, अज्ञानीजन जो भी कर्म करते हैं, उन्हें कर्म विमुख न कर सर्व प्रथम उनके चिन्तन की दिशा को सुधारें। उन्हें अन्तर्मुखी होना तथा अनासक्त भाव से यज्ञ के निमित्त कर्म करने की बुद्धि को देकर चिन्तन की दिशा का सुधार करें। जिस दिन चिंतन अन्तर्मुखी हो आत्म स्थित हो जावेगा, वे अज्ञानी भी ज्ञान को प्राप्त हो उस पुनीत मार्ग का अनुसरण करने लगेंगे। यदि उन्हें कर्म से छुड़ा दिया और चिन्तन का सुधार न हुआ तो वे विक्षिप्त अवस्थ को प्राप्त हों अकर्मण्य हो जावगे तो यह तो अधिक पाप होगा ।

उदाहरण देकर स्पष्ट करें। एक कबीले के लोग अपने देवता को भैंसे की बलि देने जा रहे थे। वहाँ से गुजर रहे कुछ समाज-सेवी मित्रों की मण्डली ने देखा तो उस स्थल का घेराव कर लिया कि जीव हत्या पाप है, हम नही होने देंगे। दोनों पक्ष अड़ गये।

एक सन्यासी वहाँ से गुजर रहे थे, उन्होंने रुककर दोनों पक्षों की बात सुनी। उसके उपरान्त उन्होने समाजसेवी बन्धुओं को समझाया कि उनका घेराव करना अनुचित है। "क्यों ?" पूछा उन्होंने ।

"इसलिये कि समस्या बलि देने की नही है; मांसाहार की है। आप इनका मांस खाना बन्द कराइये, ये बलि चढ़ाना स्वतः बन्द कर दगें। मूर्ति तो आत्मा भगवान का प्रतीक है। जब य शरीर मन्दिर में आत्मा साक्षात् को मांस, सामग्री रूप अर्पित कर रहे हैं तो ये उसकी मूर्ति पर यही प्रतीकात्मक क्रिया तो करेंगे ही। खीर वाले खीर चढ़ाते हैं; फल खाने वाला फल चढ़ाता है तो मांस और शराब के सेवन करने वाले अज्ञानीजन उसी साक्षात् क्रिया को उस आत्म के प्रतीक मूर्ति पर प्रतीकात्मक अर्पित करते हैं। समस्या का समाधान तो समस्या रूपी वृक्ष को काटने से होगा न कि उसकी प्रतीकात्मक परछाई काटने से !"

मित्रों को बात समझ में न आई। सन्यासी अपने मार्ग चले गये। पीछे झगड़ा हो गया और भैंसे के साथ मित्र लोग भी बलि चढ़ा दिये गये। पुलिस ने धावा बोला और न जाने कितने जंगली मारे गये। इतने नर संहार हुये सिर्फ समस्या रूपी वृक्ष की परछाई काटने में जो कभी कटती नहीं।

इसी को माधव, अर्जुन रूपी सत्यनिष्ठ ज्ञानी बुद्धियों को उपदेश करते हैं कि अज्ञानी लोगों को कर्म विमुख न करके उन्हें अन्तर्मुखी तथा यज्ञ के निमित्त अनासक्त भाव से कर्म करने की दीक्षा दो तथा स्वयं भी मात्र यज्ञ निमित्त ही कर्म करो।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकार विमूढ़ात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥२७॥

सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुये हैं। अहंकार से मोहित हुये अन्तः करण वाला अज्ञानी पुरुष, मैं करता हूँ, ऐसा मान लेता है।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु बर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥

परन्तु हे महाबाहो ! गुण-विभाग और कर्म-विभाग तत्व को जानने वाला; सम्पूर्ण गुण, गुणों में वर्तते है; ऐसे मानकर आसक्त नहीं होता है।

यह सम्पूर्ण जगत तो मात्र रंगमंच है। यहां केवल कर्म और गुण का प्रदर्शनात्मक नाटक है। कैसे ? प्रकृति और पुरुष ने लीलाओं द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि की रचना की और वही प्रकृति और पुरुष रूपी राधा-कृष्ण असंख्यों स्वरूपों में प्रकट हो, प्रणय–लीलाओं द्वारा नित्य नयी सृष्टि कर रहे हैं परन्तु अज्ञानी जन 'मैं वनस्पति उत्पन्न करता हूँ', 'मैं सन्तान उत्पन्न करता हूँ' ऐसा अज्ञान पूर्ण घोष करते हैं।

परन्तु जो अनासक्त हैं, जिसने तत्व रूप कृष्ण-लीला के रहस्य को पा लिया है, प्रत्येक घास के पौधे में; वृक्ष में; लीला कर रहे कृष्ण और राधा के अनन्य प्रेम को जान लिया है; प्रत्येक शरीर में मोहन की प्यारी राधा से चल रही लीलाओं को जानता हुआ देखने लगा है, वह योगी कभी कर्म अथवा गुण रूपी मायात्मक भ्रमों में नहीं फंसता है वरन् प्रत्येक पौधे, पशु, पक्षी में हो रही उस मोहक लीला को आत्म-विभोर होकर देखता हुआ, नित्य सनातन श्रीहरि के चरणों में एकीभाव से स्थित रहता है। एको कृष्णा द्वितीयोनास्ति ! गोविन्द हरि ! गोविन्द हरि !

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।
तानकृत्स्नविदोमन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥

प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरूष गुण और कर्मों में आसक्त होते है उन अच्छी प्रकार न समझने वाले मूर्खों को अच्छी प्रकार जानने वाला न चलायमान करे।

हे सत्यनिष्ठ, जगत व्याप्त, सूक्ष्म बुद्धि अर्जुन ! प्रकृति और पुरूष के इस परम लीला रहस्य को न जानते हुए अज्ञानीजन गुण और कर्म में आसक्त होते हैं। ऐसे ज्ञानरहित तथा सत्य रहित केवल रूपक मात्र को सत्य मानने वाले ; गुण और कर्म में हो मूर्खतावश आस्था रखने वाले, अज्ञानी पुरूषों को तत्त्व ज्ञानी विचलित न करे तथा उन्हें सत्य की ओर ले जाने का प्रयास करे अन्यथा उन्हें जैसा कर्म वे कर रहे हैं (मात्र आत्म यज्ञार्थ कर्म से ही यहाँ कम का तात्पर्य है जैसे सकाम पूजा, भक्ति तथा व्यापार आदि कर्म न कि पापकर्म) उन्हें करने दे क्योंकि यदि वे प्रकृति और पुरूष के तत्व का मर्म न समझ सके तो वे अनास्था-वान कर्महीन तथा समाज के लिए भार और पापमयी दुर्गन्ध का कारण बनेगें। ऐसा करना तो पाप होगा। (जैसे मूर्ति पूजा को ढोंग बताकर साधारण जीवन को भ्रमित करना ; उन्हें मूर्ति द्रोही बनाना, अन्य धर्म के कर्म और गुण में छिद्रान्वेषण करके उन सकाम भक्त समुदाय को विचलित करना ; उनका उपहास करना और उनको सकाम कर्म से भी रहित कर, नर से पशु बना देना। यह बुद्धिमत्ता अथवा विद्वता का लक्षण न होकर दम्भ, पाप और दुराचार का विषय है। ऐसा करने वाला विद्वान भले ही मिथ्या जगत को दृष्टि में महर्षि कहलाये परन्तु नित्य सत्य रुप में उसे मूर्ख, ज्ञान के पाखण्ड में पड़कर नित्य अन्धा ही कहा जावेगा तथा वह निश्चय ही प्रकृति और पुरूष से अभिशप्त हो पार्थिव यज्ञ रहित योनियों को ही प्राप्त होगा) इसलिए तत्वज्ञानी को चाहिये कि वह उन्हें विचलित किये बिना ही उनको सकाम मार्ग से निष्काम मार्ग में लावें तथा जो भूल वह कर चुका है उसका मनसा-वाचा-कर्मणा प्रायश्चित करके पुनः उस भूल को न दुहरावे ।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

ध्याननिष्ठ चित्त से सम्पूर्ण कर्मों को मुझमें समर्पण करके आशारहित (और निर्ममता पूर्वक सन्तापरहित हुआ युद्ध कर ।

इसलिए हे सत्यनिष्ठ बुद्धे ! तू ध्यानस्थ होकर निर्ममतापूर्वक यज्ञोपवीत के गाण्डी को धारण कर तथा गुण और कर्म से आशा रहित और अनासक्त होकर सम्पूर्ण कर्मों को अ अन्तर्मुखी हो मुझ आत्मा में ही समर्पण कर दे ।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तोमुच्यन्ते तेऽपिकर्मभिः ॥३१॥

जो कोई भी मनुष्य दोष बुद्धि से रहित (और) श्रद्धा से युक्त हुए सदा (ही) मेरे इस मत के अनुसार वर्तते हैं वे पुरूष सम्पूर्ण कर्मो से छूट जाते है ।

अर्थात् जो इस प्रकार वाह्य चिन्तन और लिप्साओं का निर्ममता पूर्वक दमन नहीं करते हैं तथा जो कर्म और गुण में कर्तव्य और मजबूरियां आदि थोथे सहारे रूपी वाद ही ढूंढ़ा करते हैं वे कदापि अन्तर्मुखी नहीं हो सकते। वे कदापि अनासक्त नहीं हो सकते । ऐसे व्यक्ति जो अन्तंर्ज्योति को प्राप्त नहीं हुए वे सत्य ज्ञान को कदापि प्राप्त नहीं हो सकते । सत्य ज्ञान के नाम पर मात्र भ्रमात्मकता को ही सत्य मानकर धारण किये रहते है । ऐसे अन्तर्ज्योति से हीन धन्धों को असत्य ही सत्य रूप ज्ञान में प्राप्त होता है जो उनके थोथे अहम् का कारण बनता है और वे भ्रमात्मक ज्ञानी, योगी निम्न अन्धयोनियों को प्राप्त होते हैं जैसा कि अगले श्लोक में कहा है ।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्टन्ति मे मतम् ।
सर्वज्ञान विमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

और जो दोष दृष्टि वाले मुर्ख लोग मेरे इस मत के अनुसार नहो वर्तते हैं उन सम्पूर्ण ज्ञानों में मोहितचित्त वालों को (तू) कल्याण से भ्रष्ट हुए (ही) जान !

ऐसे तथाकथित योगी स्वयं तो अन्धयोनियों को प्राप्त होते ही हैं साथ में समाज के उस समुदाय को भी अधोगति में पहुंचा देते हैं जो उनका भक्त अथवा शिष्य सम्प्रदाय है ।

इसलिए हे अर्जुन ! वाह्य गुरूरूपी द्रोण (मुरदाखोर पहाड़ी कौवा, बिच्छु) को त्यागकर एक आत्मा को गुरू रुप धारण करता हुआ, गुरू से आदेश रूपी इस परम् दिव्य पुस्तक श्रीमद्‌भगवत्‌गीता को गुरूवत् धारण कर और सम्पूणं वाह्य चिन्तन मात्र को त्यागता हुआ एक गुरु आत्मा, एक इष्ट आत्मा रूपी 'तत्सवितुं' को धारण कर और नाना ज्ञान विधान रुपी सकाम बहिर्मुखी, शोभा युक्त वाणियों को त्यागता अन्तर्मुखी हो जा ।

यदि एक साथ ऐसा करना भी तुझे असम्भव लगे तो भी प्रतिज्ञापूर्वक नित्य स्वयं को बारम्बार चेतावनी देता शनैः-शनै शेष वाह्य जगत को त्यागता तीव्रतापूर्वक मेरे द्वारा बताये इस मार्ग का आचरण कर । अन्धा काल रुपी धृतराष्ट्र तेरे जीवन के स्वर्ण क्षणों को

तीव्रता पूवक भस्मी के कणों में बदल रहा है। शनै:-शनै अन्तर्मुखी होने के सबल सहारे क्या हैं सो जान।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानिनिग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं अर्थात् अपने स्वभाव से परवश हुए कर्म करते है। ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्ठा करता है, हठ क्या करेगा।

अर्थात् कर्म को हठ पूर्वक (यज्ञार्थं कर्म) कोई भी नहीं रोक सकता क्योंकि यह तो प्रकृति प्रदत्त है ज्ञानवान उससे अनासक्त रहता है और सकामी अज्ञानवश उसमें लिप्त रहता हैं। इसलिए एकदम से कर्म को त्यागना असम्भव सा हो जाता है। ऐसी स्थिति में कर्म में अनासक्त भावना को उत्पन्न करना तथा उसमें किसी प्रकार आसक्तियों को स्थान न देना तथा चिन्तन की दिशा को मोड़कर आत्मा के ही निरन्तर चिन्तन में लगा देना उचित एवं सबल मार्ग है। जब कर्म का चिन्तन कतई समाप्त हो जावेगा तो उसकी सुधि ही न रहने से वह कर्म स्वतः छूट जावेगा। हमने कर्म को अथवा वाह्य भ्रमात्मक रिश्तों को त्यागा नहीं--वे तो सुधि न रहने से स्वतः छूट गये। परन्तु ऐसा तभी सम्भव है जब मैं निष्ठा और निर्ममता पूर्वक इस मार्ग का आचरण करूँ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

इन्द्रिय इन्द्रियों के अर्थ में स्थित राग और द्वैष उन दोनों के वश में न होवे क्योंकि वे दोनों ही कल्याण मार्ग में (अन्तर्मुखी मार्ग) विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं।

स्पष्ट किया कि इन्द्रयोचित कर्म को करते हुए उनके चिन्तन से भी त्यक्त होने के लिए सबसे पहले किसका त्याग उत्तम है-----राग और द्वैष का। राग और द्वैष यदि त्यक्त हो जायें तो कर्म को भी चिन्तन से मुक्त करना सम्भव हो जावे क्योंकि यही तो प्रथम और भयंकर शत्रु हैं जो मुझे अनासक्त नहीं होने देते हैं। इसलिए सर्वप्रथम राग और द्वैष को प्रत्येक कर्म में नष्ट कर देना चाहिए तो जिन डोरियों से हमारा चिन्तन इन राग द्वैष रुपी खूटों से बंधा है वे उखड़ जावेंगे। खूंटों के उखड़ते ही बन्धन रूपी रस्सियां अशक्त हो जावेंगी तो अन्तर्मुखी होना सम्भव हो सकेगा। गोविन्द हरि !

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

अच्छी प्रकार आचरण किये हुये परधर्म से तो गुण रहित भी स्वधर्म उत्तम है। स्वधर्म में मरना भी कल्याण कारक है और परधर्म तो भयावह है।

(परधर्म अर्थात् वाह्य इन्द्रियोचित धर्म तथा स्वधर्म अर्थात् आत्मस्थ धर्म ही स्पष्ट शब्दार्थ हैं। इसका अर्थ हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई धर्मों से नहीं है, न ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्णों से ही है। यह इससे भी स्वयं स्पष्ट है कि जिस विषय पर उपदेश चल रहा है उसके ही स्पष्टार्थ श्लोक कहे गये हैं।)

हे अर्जुन ! इन्द्रियोचित धर्म से आत्मस्थ होने का धर्म (स्वआत्मा) ही उत्तम है। भले ही इन्द्रियोचित वाह्य धर्म में दिखाऊ शोभा, वाणीविलास और शब्दचातुर्य कितना भी रुपहला क्यों न हो, अन्धयोनियों में भटकाने वाला भयानक धर्म है। आत्मस्थ धर्म में स्थापित हो गये योगी की मृत्यु भी सर्वोत्तम है तथा इस दिखाऊ शोभायुक्त वाह्यधर्म में जीना भी पाप है।

इस प्रकार माधव ने पुनः स्पष्ट किया कि वाह्य दिखाऊ शोभा युक्त धर्म तो परधर्म हैं। अन्तर्मुखी हो आत्मा में योग करना मात्र ही स्वधर्म है। चाहे वह हिन्दू, मुस्लिम, सिख अथवा ईसाई हो; चाहे वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र हो; चाहे वह बालक, युवक, प्रौढ़ अथवा वृद्ध हो; चाहे वह स्त्री हो, पुरुष हो अथवा नपुंसक हो ---सभी का आत्मा में स्थित होना ही स्वधर्म है तथा वाह्य दिखाऊ शोभायुक्त नाटकीय धर्म ही परधर्म है। इसलिये हे अर्जुन ! तुझे तीव्रतापूर्वक स्वधर्म अर्थात् आत्मधर्म में स्थापित हो जाना चाहिये। यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन, स्वजन रुपी परधर्म को नष्ट कर, अन्तर्मुखी होकर स्वधर्म में स्थापित हो परम् योगी हो।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पुरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलात्कार से लगाये हुए के सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित हुआ पाप का आचरण करता है--अर्जुन ने पूछा!

परम् श्रेष्ठ बुद्धि अर्जुन ने पूछा कि हे माधव! क्यों यह मनुष्य सब कुछ जानते हुये भी परधर्म रुपी पाप को हठपूर्वक कर बैठता है ? क्यों नहीं वह स्वधर्म में स्थापित हो जाता है ? अहो ! कौन वह दुर्जय पाप शक्ति है जिसके द्वारा जबर्दस्ती धकेला हुआ सा यह परधर्म रूपी वाह्य इन्द्रियोचित भ्रान्तियों के द्वारा पाप कर्म को ही करता रहता है ?

श्रीभगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवा ।
महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।३७।।

श्री भगवान बोले:—रजोगुण से उत्पन्न हुआ काम ही क्रोध है। यह महाअशन अर्थात् कभी भी तृप्त न होने वाला बड़ा पापी है। इस विषय में इसको तू वैरी जान।

अर्थात् राग, द्वेष के उपरान्त जो तीसरा खूंटा है, जिससे बाहर से फंसा यह मनुष्य है, वह काम है। यह अग्नि के सदृश्य कभी न शान्त होने वाला है इसे तू महाशत्रु जान और इस पापी को भी राग और द्वेष के उपरान्त मार! इससे पूर्व क्यों नहीं? इसलिये कि राग, द्वेष के शान्त हुये बिना इसको मारना नितान्त असम्भव है। राग और द्वेष में फंसा बुद्धि तो अति अशक्त है। कैसे मारेगा इस दुर्जय पापी काम को?

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।। ३८ ।।

जैसे धुएं से अग्नि और मैल से दर्पण ढका जाता है, जैसे जेर से गर्भ ढका हुआ है। वैसे ही उस काम के द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है।

इस प्रकार इस दुर्जय पापो से ढका ज्ञान युक्त पुरुष भी अन्धे के सदृश्य परधर्म को स्वधर्म मानकर, धर्म के नाम पर पाप को ही श्रद्धा भक्ति एवं आस्था पूर्वक भजता हुआ मोक्ष की कामना करने लगता है तथा तत्व ज्ञानियों के द्वारा स्वधर्म समझाये जाने पर मन्दमति उनका विरोध करता हुआ अपनी अन्धता को ही सर्वोपरि सिद्ध करने बैठ जाता है। काम से बँधा और अन्धा किया हुआ वह, नाना नाटकीय संवाद सुनाकर तथाकथित सिद्धान्त पढ़ाकर, परधर्म के ही औचित्य को सिद्ध करने का प्रयास करता है। जैसे अरे भाई पत्नी को कहाँ फेंक दें? संसार के बन्धु बान्धवों के प्रति कर्तव्य से कैसे विमुख हों? लड़कों की जिन्दगो भी तो बनानी है? आदि सवादों द्वारा अपने पाप रुपी 'काम' के बन्धन को छिपाता हुआ धर्मातमा बनने का स्वांग करता है। इस प्रकार:—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरुपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३९ ।।

और हे अर्जुन! इस अग्नि (सदृश्य) न पूर्ण होने वाले काम रुप, ज्ञानियों के नित्य वैरी से ज्ञान ढ़का हुआ है।

अर्थात् यह अग्नि की भांति सदा अतृप्त रहने वाला काम ज्ञानियों का नित्य वैरी है। इससे ढका होने के कारण ज्ञानो अहं, दम्भ और नाना परधर्म रुपी पाप कर्म में फंस स्वयं को भटका कर केवल धर्मातमा अथवा गुरु होने का मात्र ढोंगी और स्वांग भरने वाला तथा जन जातियों को अपनी अन्धता से भटका नर्क भेजने वाला अधोगति का

जघन्य पापी और नर्कदूत बन जाता है। भले ही उसे उसी के जैसे अन्धता को प्राप्त शिष्य, महर्षि अथवा ब्रह्मर्षि क्यों न कहें वह एक तो स्वयं को भटकाने वाला पापी है; पुनः जन-जातियों को भटकाने वाला नृशंस जघन्य महापापी है।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतोर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनस् ॥४०॥

इन्द्रियां, मन और बुद्धि इसके वासस्थान कहे जाते हैं और यह इनके द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके शरीरधारियों अर्थात् मनुष्यों को भटकाता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे अर्जून ! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाले इस पापी को निश्चय पूर्वक मार।

और मर गया जब यह काम तो तू निश्चय ही स्वधर्म को पाकर मनसा-वाचा -कर्मणा सत्य का आचरण करता हुआ सब कुछ सब प्रकार से त्यागता हुआ सवस्त्र सन्यासी हो जावेगा।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु पराबुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

इन्द्रियों को बलवान कहते हैं। इन्द्रियों से बलवान मन है। मन से बलवान बुद्धि है तथा बुद्धि से अत्यन्त बलवान है सो आत्मा है।

अर्थात् यह काम इन्द्रियों, मन और बुद्धि को ही आच्छादित कर सकता है परन्तु इनमें भी जो अति बलवान परम्शक्ति आत्मा है उसका यह काम कुछ नहीं बिगाड़ सकता है। अतः आत्मा ही इस काम रुपी दुर्जय शत्रु को मार सकने में समर्थ है। स्पष्ट है कि आत्मस्थ धर्म द्वारा ही काम को वश में किया जा सकता है। परधर्म अर्थात् इन्द्रियोचित वहिर्मुखी धर्म द्वारा तो यह काम कदापि-कदापि नष्ट नहीं हो सकता। इन्द्रियोचित धर्म के उपासक जो जितेन्द्रिय धर्म की बात करते हैं वह सब नाटक मात्र है। ऐसे तथाकथित गुरू, बाबा, भगवान और मुनिजन वस्तुतः कामाशक्त परधर्मी हैं तथा अपने अनुयायियों को भी उसी पापी काम के सांत्वनार्थ अवध परधर्म में लगाने वाले पापी हैं।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरुपं दुरासदम् ॥४३॥

इस प्रकार बुद्धि से परे अर्थात् सूक्ष्म तथा सब प्रकार बलवान और श्रेष्ठ अपनी आत्मा को जानकर आत्मा में बुद्धि को युक्त करके मन, इन्द्रियों को वश में कर इस दुर्जय काम रूप शत्रु को मार !

अहो ! यह काम रूपी शत्रु कितना दुर्जय है इसको महाभारत में निहित तत्व से, जो अति गोपनीय है, स्पष्ट करते हैं ।

एक सौ धार्तराष्ट्रों (कौरवों) को एक ही बहन है दुःशला जिसका पति है जयद्रथ ——-अभिमन्यु का हत्यारा । धार्तराष्ट्र अर्थात् लिप्साओं की बहन दुःशला अर्थात् वासना, जिसका पति जयद्रथ अर्थात् दुर्जय काम ।

लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि का इकलौता पुत्र अभिमन्यु अर्थात् प्रलयंकर यज्ञाग्निओं में समर्पण की भावना रुपी इकलौता लक्ष्य ।

अहो ! शरीर सामिग्री को आत्म-कुण्ड की प्रलयंकर यज्ञाग्नियों में यज्ञ करने के निर्णय रुपी पुत्र अभिमन्यु को, जो ब्रह्मकपाल रुपी चक्र, व्यूह, के सातोंद्वार भेदन कर गया है ——वासना का पति काम पापपूर्वक घेर कर निहत्था मार देता है । हर्षनाद करती हैं लिप्सायें, जो धार्तराष्ट्र हैं और उनके साथी गुरूवाद के प्रतीक द्रोणाचार्य रूपी मुरदाखोर पहाड़ी कौवा, पितामह वाद का प्रतीक भीष्म अर्थात् विष अथवा राक्षस, पूर्व जन्म का कुआंरा ज्ञान रुपी कर्ण । इस प्रकार विश्वामित्र को भटका ले गई मेनका । यदि नष्ट हो चुका होता काम विश्वामित्र का, तो कैसे भटकाती मेनका ? क्योंकि काम तो सोया था, मरा नहीं था । यदि मर जाता तो तप भंग होता नहीं । सोये काम को जगाकर तप भ्रष्ट करने में समर्थ है दुःशला और जयद्रथ ।

इसलिये पावन गुरुओ, सन्यासियो, श्रेष्ठ मुनियो एवं भक्त बन्धुओ ! आओ चलें स्वधर्म पालन करने और मारें दुर्जय काम को । धर्म के ढोंग को त्यागें और मस्त, निश्चिन्त, उन्मुक्त हो यज्ञार्थ कर्म करते हुये अनासक्त भाव से आत्मस्थ होते चलें । इन्द्रियोचित धर्म सारे, मैथुन के अपभ्रंश हैं । छोड़ो यह राग-अलाप सारे, फैंको इन शोभायुक्त वाणियों के रुपहले भटकाव को । चलो भीतर चलें । गोविन्द हरि ! गोविन्द हरि !

नैया हमारी कर्मयोग की पावन धाराओं का स्पर्श पाकर मस्त झूमती आगे बढ गई है । यहां न हिन्दू है, न मुस्लिम है, न सिख है, न ईसाई न ब्राह्मण, वैश्य, क्षत्रिय, शूद्र का भेद है, न गुरु चेले की विषमता है । संसार रूपी किनारा बहुत पीछे छूट गया है। एक सत्य रूपी सहस्त्र सूर्यों की अमर ज्योति सम्मुख है हमारे ! यज्ञोपवीत का गाण्डीव हमारे हाथ है, कांप रहे हैं कौरव सारे ! युद्ध का तीसरा दिन समाप्ति पर है । मुर्दनी छाई है धार्तराष्ट्रों के खेमों में ।

झूम रहे हैं हम मतवले ! झूम रही है नाव हमारी ! गोविन्दा है साथ हमारे ! जब कन्हैया है खिवैया, कौन रोक सके नैया ! गोविद हरि ! गोपाल हरि !

हरि ॐ ! नारायण हरि !!

हरि ॐ ! नारायण हरि !

श्रीमद्भगवत्गीता

दिव्य दर्शन

चतुर्थोऽध्यायः

हे प्रिय सखाओ ! आज श्रीमद्भगवद्गीता रूपी महासमर का चौथा दिन है। कौरवी सेनायें युद्ध के लिए सन्नद्ध हो रही हैं परन्तु चिन्ता नहीं है। हम संसार दलदल को बहुत पीछे छोड़ आये हैं। राग, द्वेष और काम का दमन करने के दिव्यास्त्रों का ज्ञान कर, हमने उन्हें महासमर में परास्त कर दिया है। कौरवों के रंग उड़ गये हैं।

हमारा सारथि तो मधुसूदन माधव है, भटकने का प्रश्न ही नहीं उठता है। आत्मा रूपी परम् दिव्य, सहस्त्रों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशवान सूर्य अन्तर में व्याप्त गहन रात्रि के तम को ज्वाला सम निगलता, प्रकाशमान होने लगा है। शुभ-प्रभात की अमृतमय रश्मियों से अन्तर जगमग होने लगा है। स्वर्ण सी झिलमिलाती प्रकाश किरणों द्वारा अन्तर मन आत्म-विभोर हो रहा है। हमारी नाव ज्ञान-कर्म-सन्यास योग रूपी पवित्र धाराओं में प्रवेश पाने वाली है। हम हैं मस्त, निश्चिंत, उन्मुक्त ग्वाले। पुरुषोत्तम माधव परम प्रिय सखा हमारा है। लिप्साओं, वासनाओं, भेद-भाव, जात-पाँत, ऊँच-नीच से दूर, बहुत दूर आत्मानन्द में मस्त, हम झूमते आगे बढ़ रहे हैं। यज्ञोपवीत के गाण्डीव हाथ में हैं और त्याग, विरक्ति के बाण मस्त, निश्चिंत होकर चला रहे हैं एवं ज्ञान रूपी तलवार से धार्तराष्ट्र की हर चाल को धराशायी कर देते हैं। ढाल हमारी पावन कन्हैया है जो अमर आत्मा का प्रतीक, परमात्मा स्वयं है।

हमें उनके अस्त्रों का भय क्या ? कौन मार सकता है हमें ? हम निष्काम कर्म के मर्म को जानते हैं ; सांख्य और समत्वबुद्धि का परम् ज्ञान है हमें। आत्मस्थ हो, बुद्धि द्वारा मन इन्द्रियों को वश में कर दुर्जन पापी काम को मार दिया है हमने। निश्चय ही जीत हमारी है।

आइये सुनें श्रीमाधव आत्मा को और सत्य, तपनिष्ठ लक्ष्य–निर्णायक बुद्धि अर्जुन को !

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

श्री भगवान ने कहा :– मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था । सूर्य ने मनु के प्रति कहा, मनु ने इक्ष्वाकु के प्रति कहा ।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए इस (योग) को राजर्षियों ने जाना । हे अर्जुन ! वह योग बहुत काल से इस लोक में लोप हो गया ।

इस योग को महाप्रभु ने सूर्य को बताया था, सूर्य ने यह परम दिव्य रहस्य मनु के प्रति कहा था और मनु ने इस परम् रहस्य को इक्ष्वाकु को बताया और इक्ष्वाकु से परम्परागत हो, यह परम दिव्य ज्ञान राजर्षियों को प्राप्त हुआ ।

सूर्य का शब्दार्थ जगत् आत्मा तथा प्राणाधार होता है । वैदिक ज्योतिष में (जिसे वेद चक्षु कहा गया है) सूर्य, गणित की एक काल इकाई है जिसका अर्थ है ३६०X४३,२०,००० वर्ष ।

इसी प्रकार मनु का अर्थ ७१X४३,२०,००० वर्ष है तथा वर्तमान वैवस्वत मनु का ५१वां वर्ष चल रहा है । इस प्रकार भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण के ५१ बार अवतरण तथा लीला युद्ध की बात सम्पूर्ण वैदिक जगत में मान्य है ।

विद्वान जगत में मनु नाम के किसी सन्यासी की मान्यता तथा उसके समय का अनुमान लगाना मात्र उनका ज्योतिष के प्रति अज्ञान है । 'मनु-स्मृति' पुस्तक से वे किसी मनु नामक सन्यासी की कल्पना करते हैं । जबकि मनुस्मृति का अर्थ है 'काल की स्मृति'। बहुत से भोजपत्र सन्यासियों को मिले जिनके उद्‌गम का ज्ञान नहीं होने से, उन्हें क्रमबद्ध, सुचारू रूप मे एक पुस्तक में प्रकाशित किया गया और नाम दिया 'मनु-स्मृति' अर्थात् 'काल की स्मृति' ।

इसी प्रकार इक्ष्वाकु को भी काल का मापदण्ड माना गया है जो प्रत्येक चतुर्युगी का मान है । राजर्षियों अर्थात् आत्मानन्द में व्याप्त बुद्धियों को, इस प्रकार काल से यह ज्ञान तप द्वारा योगमार्ग से प्राप्त हुआ परन्तु इसी काल के पुत्र धृतराष्ट्र नामक अन्धे राजा और आँखों पर पट्टी बांधने वाली गान्धारी महामाया

द्वारा कलियुग पूर्व ही इसको लुप्त कर दिया गया। (इसका विस्तार 'सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि' में दिया है) इसका दूसरा स्पष्ट अर्थ है कि परमात्मा ने यह ज्ञान सूर्य अर्थात् आत्मा को दिया। सूर्य अर्थात् आत्मा ने उक्त ज्ञान मनु अर्थात् दस इन्द्रियों के अधिपति मन को दिया। मनु अर्थात् मन ने वह ज्ञान इक्ष्वाकु अर्थात् इच्छा बुद्धि को प्रदान किया। इस प्रकार परम्परा से यह ज्ञान आत्ममार्ग से अर्थात् योग मार्ग से योगियों को प्राप्त हुआ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

वह ही यह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए वर्णन किया है क्योंकि तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है। (तथा) यह अति उत्तम रहस्य अर्थात् अति मर्म का विषय है।

हे आत्मनिष्ठ, परंतप, तत्वजिज्ञासु बुद्धे ! यह परम गोपनीय तथा मात्र मोक्ष का मार्ग अर्थात् आत्मयोग का रहस्य मेंने तुझे बताया है क्योंकि तू मेरे प्रति जागृत है। सम्पूर्ण वाह्य जगत को मार अन्तर्ज्योति को जागृत करने के लिए आत्म-भक्त अर्थात् मेरा भक्त है और मैं तेरा मार्गदर्शक हूँ।

अर्जुन उवाच

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

अर्जुन ने पूछा :– आपका जन्म आधुनिक (और) सूर्य का जन्म बहुत पुराना है। इस योग को (कल्प के) आदि मे आपने कहा था यह मैं कैसे जानूँ ?

हे माधव ! है गोविन्द !! सम्पूर्ण भूतप्राणियों के हृदय में वास करने वाले आत्मा ! मेरे प्राणाधार ! आपका जन्म तो मेरे इस शरीर में आधुनिक है जबकि सूर्य और मनु आदि तो अति पूर्व के जन्में हैं ? तब मैं जानना चाहूंगा हे परम्+आत्मा =परमात्मा परंब्रह्म प्रभु कृष्ण, आपने किस प्रकार की लीला द्वारा यह रहस्य आदि सृष्टि की उत्पत्ति के समय इनको दिया। अहो ! कृपा पूर्वक इस परम रहस्य को मुझ भक्त पर प्रकट करें।

श्रीभगवानुवाच

बहूनि मे व्यतीतानी जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

श्री भगवान ने कहा :- हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं (परन्तु) उन सबको तू नही जानता है और मैं जानता हूँ।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

मैं अविनाशी स्वरूप अजन्मा होने पर भी (तथा) सम्पूर्ण भूतप्राणियों का ईश्वर होने पर भी अपनी प्रकृति को आधीन करके योग माया से प्रकट होता हूँ ।

उपरोक्त दोनों श्लोकों का तत्व स्पष्ट करते हैं। हे महाबुद्धे ! हे लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि अर्जुन ! मेरे अर्थात् आत्मा (तथा परम् हो परमात्मा) के बहुत से जन्म हो चुके हैं परन्तु तू उन सबको अपने जड़त्व के कारण नहीं जानता है । क्यों ?

इसलिए कि यह शरीर पुनः भस्मियों से यज्ञों द्वारा वनस्पति और वनस्पतियों से यज्ञों द्वारा बालक स्वरुप को धारण करता है तो इसका ज्ञान हर बार यज्ञ के द्वारा नष्ट हो जाता है जिससे इसे पूर्व जन्मों का ज्ञान नहीं रहता है। (यज्ञ यज्ञेश्वर में देखें 'सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि')

मैं आत्मा होने से न तो मरता हूँ और न जन्मता हूँ वरन् अवतरित होकर उस नये रथ (शरीर) का पुनः सारथि बनता हूँ। क्योंकि मुझे विसर्जन यज्ञों के अग्नि-प्रवाहों में नहीं जाना होता है इसलिये मेरा ज्ञान नष्ट नहीं होता हैं। इस प्रकार आदि काल से लेकर अब तक जितने जन्म तेरे हुए हैं, उतने ही अवतरण मेरे हुये हैं अर्थात् जितनी बार तू शरीर रुप में उठा, उतनी बार, उस शरीर को प्राण देने, मैं आत्मा बन अवतरित हुआ ।

इस प्रकार मैं अमर, अजन्मा तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियों का ईश्वर अर्थात् आत्मा (तथा परम+ईश्वर=परमेश्वर) हूँ। मैं अपनी प्रकृति अर्थात् काया को अपने अधीन करके सदा योगमाया अर्थात् लीला से प्रकट होता हूँ ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि (और) अधर्म की वृद्धि होती है तब-तब ही मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ ।

जब-जब यह भूतप्राणि स्वधर्म (आत्मधर्म) से विमुख होकर परधर्मी (इन्द्रियोचित धर्म) हो जाते हैं और जड़त्व को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् भस्मियों में परिणित हो जाते

है तब-तब उन्हें पुनः नूतन स्वरुप प्रदान करने तथा स्वधर्म की प्रेरणा देने के लिए मैं आत्मा, अपनी आत्मकाया को योगमाया अर्थात् आलौकिक लीला द्वारा उस नूतन शरीर में प्राण संचार हेतु प्रकट करता हूँ।

पुनः जब-जब आध्यात्मिकता को भ्रान्तिपूर्ण भौतिकता नष्ट कर देती है तथा सम्पूर्ण भूतप्राणि भ्रमित हो परधर्म का आचरण करने लगते हैं ; स्वधर्म का ज्ञान नष्ट हो जाता है तथा भूमण्डल पर अज्ञान और अन्धकार का बोलबाला हो जाता है ; भूतप्राणी योग, तप और अन्तर्मुखी तत्व से विमुख हो, परधर्म अर्थात् इन्द्रियोचित भ्रान्तियों के पाप को धर्म के नाम पर ओढ़ने लगते हैं और पाप के भार को धर्म के नाम पर ही बढ़ाने लगते हैं——तब - तब मैं योगमाया द्वारा लीला करता हुआ अपनी परम् शक्ति से पात्रों को प्रकट करता हुआ, लीलायुद्ध के द्वारा उन्हें माया-महासमर के महायुद्ध तथा मोक्षप्राप्ति के अति दुर्लभ मार्ग का अमृतमय ज्ञान प्रकट करता हूँ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

साधु पुरूषों का उद्धार करने के लिए और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म स्थापना के लिए युग-युग में प्रकट होता हूँ।

परधर्म के पाप के कारण दुर्गन्ध को प्राप्त हो गयी बुद्धियों को नष्ट करने तथा स्वधर्म का मार्ग चाहने वाली बुद्धियों को संशय रूपी बाधाओं से उद्धार करने के लिए मैं आत्मा, बारम्बार उनको प्रेरित करता हूँ और सत्य को अन्तर से प्रकट करता हूँ।

पुनः साधु पुरुषों अर्थात् स्वधर्म (आत्मधर्म) का पालन करने वाले सन्यास मार्गियों को राह दिखाने तथा भौतिक परधर्म अर्थात् बहिर्मुखी इन्द्रियोचित धर्म को प्राप्त हो गये पापियों के पाप रुपी शोभायुक्त वाणियों के भ्रम को नष्ट करने के लिए लीला युद्ध अर्थात् नाट्य युद्ध द्वारा अन्तरमार्ग को स्पष्ट करता हूँ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

हे अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है। इस प्रकार जो पुरूष तत्व से जानता है वह शरीर को त्यागकर फिर जन्म को नहीं प्राप्त होता है, अपितु मुझे ही प्राप्त होता है।

अर्थात् जो पुरूष मेरे इस रहस्यमय लीला युद्ध को तत्व से जानता है (न कि ऐतिहासिक, भौतिक युद्ध रूप में) वह अन्तरमार्गी इस परम् ज्ञान को मनसा-वाचा-कर्मणा धारण करता——यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर सम्पूर्ण परधर्म रूपी वाह्य चिन्तन मार्ग से विमुख होता, अन्तर्मुखी हो मुझ आत्मा वासुदेव को ही सम्पूर्ण जगती का कर्ता, कारण जानता——शरीर सामिग्री (सम्पूर्ण कर्म-अकर्म, पाप-पुण्य को मुझमें ही अर्पित कर बहिर्ज्ञान से मुक्त होता हुआ) को आत्मकुण्ड रूपी यज्ञ चिता पर तेज में बदल ब्रह्म कपाल से प्रकट हो जाता है ; वही मुझे तत्व से जानता है तथा मुझे ही प्राप्त होता है अर्थात् मोक्ष (अक्षय पद) पाता है।

कुछ मित्रजन "जान लेने" का अर्थ लगाते हैं केवल पढ़कर जान लेना और मोक्ष का अधिकारी हो जाना। पढ़ना और फिर उस मार्ग पर न चलना तो दुहरा पाप है। इस प्रकार का "जान लेना" मोक्ष पद नहीं दिलाता। यदि ऐसा होता तो विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर इस शरीर में परम् मुनि कहाते और सम्पूर्ण जीवन में भौतिकता का ही आचरण करते, मोक्ष को प्राप्त होते। फिर अर्जुन ही क्यों युद्ध करता और माधव ही क्यों उसे सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को त्यागने का आदेश करते।

इसी श्लोक को पुनः अगले श्लोकों में श्रीगोविन्द स्पष्ट करते हैं।

वीतराग भय क्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञनतपसा पूता मद्भावमागताः ॥१०॥

राग, भय और क्रोध से रहित अनन्य भाव से मेरे में स्थिति वाले मेरे शरण हुए वहुत से पुरूष ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए मेरे स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं।

इस प्रकार जानने का अर्थ स्पष्ट हुआ कि जो राग, भय, क्रोध, काम (पूर्व के अध्यायों में) से रहित तथा पूर्व रुपेण आत्मस्थित स्वधर्म अर्थात् मात्र आत्मा के धर्म का आचरण करने वाले सन्यासी हैं ; जो श्रीहरि को भौतिक, ऐतिहासिकता मात्र से नहीं, अमर तत्व से भी जानते हुए ; उनके ही एक मात्र शरण हो गये हैं, ऐसे ज्ञान रुपी परम पुनीत तप से पवित्र हुये योगी, श्री हरि के स्वरूप को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् अक्षय (मोक्ष) पद को धारण कर श्री हरि का ही स्वरूप हो गये हैं। खिलौने से खिलाड़ी बन गये हैं।

ये तथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ ११ ॥

हे अर्जुन ! जो मेरे को जैसे भजते हैं मैं (भी) उनको वैसे ही भजता हूँ (इसे जानकर) बुद्धिमान मनुष्य गण सब प्रकार से मेरे मार्ग के अनुसार बर्तते हैं ।

जो मनुष्य जिस प्रकार का भोजन आत्मा को अर्पित करता है, मैं साक्षात् ईश्वर (आत्मा) उसे उसी प्रकार का फल देता हूँ । अर्थात् सात्विक भोजन खाने वाले को सात्विक वृत्तियां ; तामसी भोजन खाने वाले को तामसी वृत्तियां तथा राजसी भोजन खाने वाले को राजसी वृत्तियाँ प्रदान करता हूँ ।

पुनश्च: जो मुझे जिस भावना से भजता है, मैं उसी भावना से भजता हूँ । अर्थात् सन्तान सुख हेतु भजने वाले को सन्तान, ऐश्वर्य चाहने वाले को ऐश्वर्य, सम्मान चाहने वाले को सम्मान, तथा मोक्ष चाहने वाले को मैं स्वयं प्राप्त होता हूँ । दूसरे का अहित करने की भावना से भजने वाले का ही अहित करता हूँ । राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या रुपी मानसिक आहार मुझ आत्मा को अर्पित करने वाले को मैं उसी प्रकार राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या से युक्त करता, चेहरे की सात्विकता को नष्ट कर, उसका जीवन विषावत कर देता हूँ । मस्ती, निश्चिन्तता, उन्मुक्तता और श्रीहरि के चरणों की भक्ति चाहने वाले को मैं उसी भावना से भजता, दिव्य तेज प्रदान करता हुआ मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता हूँ अर्थात् जैसी वृत्तियाँ वैसा फल । यह स्वयं में भी स्पष्ट है कि विष खाने वाला मरेगा ही और अमृत पान करने वाला जियेगा ही, तो जो जैसा करेगा वैसा भरेगा ।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।
क्षिप्रं हि मानुषे लाके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

इस मनुष्य लोक में कर्मों के फल को चाहते हुए देवताओं को पूजते हैं (और उनके) कर्मों से सिद्धि (भी) शीघ्र ही होती है ।

भावना का फल उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार वह भजता है । प्रत्येक व्यक्ति चाहे जिसे भजे लौटकर भजता अपनी आत्मा को ही है क्योंकि सारे देवता, आत्मा और आत्मा से भी परम् परमात्मा के ही प्रतीक हैं, जिसके फल देने वाले पुनः

आत्मा और का परम स्वरुप परमात्मा ही हुये। यहाँ मन्दिर और मूर्ति को पुनः स्पष्ट कर दें:-

आपने समाधिस्थ योगी को देखा होगा। उसके आसन (पद्मासन अथवा अन्य) के जैसा चबूतरा बनाया। उस पर शरीर के जैसा एक कमरा बना दिया। उस कमरे पर उसके सिर के जैसा गुम्बद लगा दिया और उसकी जटाओं के जैसी कलशाकार शिखा स्थापित कर दी---और जिस प्रकार उसके शरीर मन्दिर में परमात्मा की मूर्ति आत्मा है, वैसी ही एक प्रतीकात्मक मूर्ति बिठा दी। जब सब नाम उसी के हैं; सब स्वरूप उसी के हैं; उसके अतिरिक्त कुछ है ही नही---तो स्वतन्त्रता प्रदान कर दी कि उसके असंख्यों स्वरुपों और असंख्यों नामों में जो मन भावे सो स्वरुप और नाम रख दो। बन गया मन्दिर।

इस प्रकार जब आप हाथ जोड़कर, आँख मूँदकर मन्दिर में मूर्ति का ध्यान करते हैं तो किसका ध्यान किया---मेरी ध्यान रूपी गेंद मूर्ति से टकरा कर पलटी और अन्तर में वहीं स्थापित हो गई---जहाँ होना चाहिए था मुझ बुद्धि रुपी पुजारी को, इस शरीर रुपी मन्दिर में, आत्मा रूपी भगवान के सामने। इस प्रकार मन्दिर और मूर्ति अति महान पवित्र एवं अमृत तुल्य माध्यम हैं---मुझे योग में स्थापित करने के लिये।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम् ।।१३।।

गुण और कर्मों के विभाग से चार वर्ण मेरे द्वारा रचे गये हैं उनके कर्ता मुझ अविनाशी को तू अकर्ता ही जान।

इससे स्पष्ट हुआ कि वर्ण की व्यवस्था यदि मानें तो गुण कर्म के विभाग से हुई, न कि जन्म के विभाग से। क्योंकि यह विभाग एक ही व्यक्ति को, चार वर्णों में गुण और कर्मों के अनुसार बाँटता है।

जन्मते ही प्रत्येक व्यक्ति शूद्र है; जहाँ भी जन्मता है १२ दिन छूत वास करती है। शूद्र स्त्री ही नाल काटती है तथा माँ एवं बच्चे को भोजन खिलाती है।

जब गुरुकुल में, संस्कार कर्म के उपरान्त ज्ञानार्जन हेतु जाता है तो वैश्य है क्योंकि वह जीवन के मूलधन रुपी ज्ञान का अर्जन कर रहा है; जो उसे इस माया संसार के उपयुक्त

बनाता है, जो वस्तुतः उसके जीवन व्यापार की अर्जित पूंजी है तथा उसी के व्यवसाय से ही उसका जीवन यापन होना सिद्ध होता है एवं उसके द्वारा ही पुनर्जन्म अथवा मोक्ष का मार्ग स्पष्ट होता है।

जब विवाह आदि करने को 'क्षत्र' धारण करता है तो क्षत्रिय है उसका यज्ञोपवीत दुहरा हो जाता है। माया महासमर का महारथी अर्जुन है, या तो जीतकर मोक्ष लेगा अन्यथा भस्मी में बदल आवागमन के चक्कर में पड़ जावेगा।

जब वाह्य संसार की निस्सारता को जान, उससे विरक्त हो, अन्तर्मुखी होता, ब्रह्म के मार्ग का आचरण करने चल देता है, तो ब्राह्मण है।

जब सम्पूर्ण स्वजन, दुर्जन एवं सभी प्रकार के वाह्य चिन्तन को त्याग (मार) शरीर सामिग्री को आत्माकुण्ड में यज्ञ करने के मात्र लक्ष्य को धारण करता है, तो सन्यासी है।

इससे स्पष्ट हुआ कि अज्ञान ही शूद्रता है, ज्ञानार्जन ही वैश्य है, कर्मकाण्ड ही क्षत्रिय है, वैराग्य ही ब्राह्मण है तथा तप-यज्ञ ही सन्यास है। अन्यत्र भी कहा है कि 'जन्मना जायते शूद्राः संस्कारात् द्विज उच्चते !' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति जन्म से शूद्र है, संस्कार द्वारा ही वह द्विज होता है।

द्विज का अर्थ है जिसका दो बार जन्म हो 'द्वाभ्याम् जायते इति द्विजः'। जब बालक उत्पन्न हुआ तो अज्ञान रुपी शूद्रता को ओढ़ने के कारण शूद्र कहलाया। जब यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और इसी शरीर में दूसरा जन्म लेने की प्रतिज्ञा की, अर्थात् शरीर सामिग्री को आत्मा-हवन कुण्ड में यज्ञ कर ब्रह्मकपाल से पुनर्जन्म को धारण करता प्रकट होऊगा (देखिये 'सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि' पहला अध्याय एवं 'अधियज्ञ मित्र') तो द्विज प्रतिज्ञ होने से द्विज कहलाया।

परन्तु जब ब्रह्मकपाल से प्रकट न हो सका तो बारह दिन की, जन्म समय की शूद्रता, तेरह दिन की तेरहवीं बन गई। सत्य ने कहा, 'अहो ! यह तो प्रतिज्ञा को खंडित कर चला। यह सत्य रूप द्विज न था। यह तो वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण का असत्य रूप पाखण्ड मात्र करता रहा। ब्राह्मण तब कहलाता जब प्रकट होता ब्रह्मकपाल से और पूर्ण होती यज्ञोपवीत की द्विज-प्रतिज्ञा। इसे जन्म से मृत्यु पर्यन्त शूद्र घोषित

करो और एक जन्म की शूद्रता का प्रतीक रुप एक दिन, जन्म समय की बारहवीं (सूतक) में जोड़कर तेरह दिन की छूत (शूद्रता) मनाओ। इसे चिता पर ले जाकर इसकी कपाल-क्रिया करो।' ('सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि,' दूसरा अध्याय)

इस मान्यता को आज भी आदिकाल से सारे सनातन जन ज्यों का त्यों मनाते हैं। इससे स्पष्ट है कि चार वर्णों की सृष्टि आत्मा माधव एक ही मनुष्य के शरीर में करते हैं। सत्य रुप में वर्णों की व्यवस्था गुण एवं कर्म के विभाग से है, न कि मात्र जन्म के विभाग से।

अब प्रश्न उठता है कि जन्म से वर्ण व्यवस्था को मानने की भ्रान्ति कैसे उत्पन्न हुई ? यदि हम अतीत पर दृष्टिपात करें तो हमें अपने प्रश्न का उत्तर स्पष्ट मिल जाता है। अत्यन्त प्राचीन काल में निष्काम-आत्म यज्ञार्थी ब्रह्ममार्गी के पुत्र जन्मते ही उन्हीं संस्कारों का आचरण करने लगते थे इससे ब्रह्म मार्गी अर्थात ब्राह्मण कहलाने लगते थे। इससे भी स्पष्ट है कि ब्रह्म के मार्ग का आचरण करने के संस्कारों से ही ब्राह्मण कहलाते थे। इसी प्रकार धीरे-धीरे समय की गति से वे उसे जन्म से मानने लगे जो कि असत्य है।

जो सत्य रुप में अर्थात् संस्कारगत गुण एवं कर्म से ब्राह्मण है वह तो ईश्वर से भी महान है। उसकी चरण रज को भाल तिलक जानने वाला भक्त भी महान है। परन्तु स्वांगी और पाखण्डी, कर्म एवं गुण हीन लोगों को वह सम्मान देना वर्जित है। ब्राह्मण को तो स्वयं भगवान भी प्रणाम करते हैं।

हे अर्जुन ! इस प्रकार चार वर्णों का सृष्टा होते हुए भी तू मुझ आत्मा को अकर्ता ही जान। यद्यपि मेरे अतिरिक्त कोई भी वर्ण जो मनुष्य मात्र का है, सो शूद्र वर्ण ही है अर्थात् मुझ आत्मा के बाहर निकलते ही ब्राह्मण का शरीर भी शूद्र हो जाता है तथा जिस घर में रहता हैं वहाँ १३ दिन (जन्म से एक दिन अधिक) छूत वास करती है। जब मैं आत्मा होकर सर्वत्र समान हूँ तो वर्ण व्यवस्था से मुझे अकर्ता जान तथा इस वर्ण व्यवस्था को गुण कर्म के विभाग से ही देख।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ।।१४।।

कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है (इसलिए) मेरे को कर्म लिपायमान नहीं करते हैं। इस प्रकार जो मेरे को तत्व से जानता है वह (भी) कर्मों से नहीं बंधता है।

आत्मा सब वर्णों का कर्ता होते हुए भी स्वयं वर्णरहित है जिस प्रकार सन्यासी। चोर की चोरी, डाकु का डाका, हत्यारे द्वारा हत्या, यह सब होते हुए भी आत्मा निष्काम भाव से उन कर्मों में स्पृहा रहित हुआ न लिपायमान होता; चोर, डाकू और हत्यारे को भी समभाव से यज्ञों द्वारा उन-उनका शरीर चालन करता है। ऐसा तो नहीं है कि काम, क्रोध और लिप्साओं के वशीभूत हो, चोर ने चोरो की अथवा हत्या की, तो आत्मा उसे धिक्कारता हुआ शरीर त्याग दे। इसी प्रकार धर्मात्मा कौन ? जो आत्मा के धर्म का आचरण करे। आत्मा ही की तरह कर्मों में न लिपायमान होता हुआ स्पृहारहित अन्तर्मुखी हो आत्मा माधव में ही प्रतिक्षण स्थित रहे तो कर्मों से बंधेगा नहीं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

पहले होने वाले मुमुक्षु पुरूषों द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है इससे तू भी पूर्वजों द्वारा सदा से किये हुए कर्म को ही कर।

इस प्रकार हे सत्यनिष्ठ बुद्धे ! इससे पूर्व भी तेरे पूर्वज मेरे द्वारा बताये हुए उपरोक्त मार्ग का अनुसरण करके, कर्मों में न बंधते हुऐ सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर नष्ट करते, आत्मा में स्थित हो, मोक्ष को प्राप्त हुए है तो तू भी ऐसे ही स्वधर्म का आचरण करे।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? ऐसे विषय में बुद्धिमान पुरूष भी मोहित हैं (इसलिए मैं) वह कर्म अर्थात् कर्मों का तत्व तेरे लिए अच्छी प्रकार कहूँगा जिसको जानकर (तू) अशुभत्व को त्यागता, मोक्ष को प्राप्त होगा।

(मित्रगण ! जहां भी कर्म शब्द का प्रयोग है, उसे आत्मयज्ञार्थ कर्म ही समझें, न कि शराब, व्यभिचार, जुंआ, कुमार्ग को भी इसी कर्म की परिधि में लेकर

श्लोकों के मनचाहे अर्थ लगावें। एक श्लोक को पढ़ते समय, पूर्व के सब अध्यायों में कहे हुए प्रवचनों का ध्यान कर, उसी के प्रकाश में आगे आने वाले श्लोक भी देखें।)

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरुप (भी) जानना चाहिये तथा निषिद्ध कर्म का स्वरूप (भी) जानना चाहिये क्योंकि कर्म की गति गहन है।

इस श्लोक से भी स्पष्ट है कि आप मनमाने ढंग से एक श्लोक का अर्थ न लगाकर सम्पूर्ण कहे गये श्लोकों के प्रकाश में देखें अन्यथा समय नष्ट करेंगे और कुछ न पा सकेगें।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तःकृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

जो पुरूष कर्म में अर्थात् अहंकार रहित की हुई सम्पूर्ण चेष्ठाओं में अकर्म अर्थात् वास्तव में उनका न होनापन देखे और जो पुरुष अकर्म में अर्थात् तत्व से अज्ञानी पुरूषों द्वारा किये हुए जबरन सब क्रियाओं के त्याग में, उनके द्वारा किये जा रहे चिन्तन रूप कर्म को देखे, वह पुरूष मनुष्यों में बुद्धिमान है, ऐसा योगी सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है।

जो बुद्धिमान पुरूष प्रत्येक कर्म में स्पृहारहित और न लिपायमान होता हुआ आत्म यज्ञार्थ, आत्मस्थित हो कर्म करता है, उसके सम्पूर्ण कर्म, अकर्म अर्थात् न किये हुये के सदृश्य हैं। तथा जो पुरूष हठात् कर्म के त्यागने में तथा चिन्तन से न त्यक्त किये (अज्ञान रूप ज्ञानी के) अकर्म में चिन्तन रूपी कर्म के दोष को जानता है; वही पुरुष ज्ञानी है और कर्म का जानने वाला है।

इसलिए चिन्तन दोष को जानकर, मनसा-वाचा-कर्मणा स्पृहारहित न लिपायमान होता हुआ, मात्र यज्ञार्थ कर्म ही करे। ऐसा व्यक्ति ही कर्म के तत्व तथा आत्मा के तत्व का ज्ञानी है।

यस्य सर्वे समारम्भाः काम संकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं उस ज्ञान रूप अग्नि द्वारा भस्म किये हुए कर्मों वाले पुरुष को ज्ञानी जन (भी) पण्डित कहते हैं।

जो प्रत्येक कर्म में कामना और संकल्प रहित है, वही स्पृहारहित तथा न लिपायमान होने वाला महापुरुष है। ऐसे परम् ज्ञानी के सम्पूर्ण कर्म. उस ज्ञान रूप अग्नि में भस्म हो अकर्म हो जाते हैं। ऐसे ही ज्ञान युक्त पुरुष को ज्ञानियों ने पण्डित कहा है, अन्य को नहीं।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

सांसारिक आश्रय से रहित सदा आत्मा में ही तृप्त वह कर्मों के फल और संग से त्यक्त, कर्म में अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ नहीं करता है।

कर्तृत्व के अभिमान से रहित सदैव आत्मा में स्थित, आत्मा की ही भांति न लिपायमान होते हुये, स्पृहारहित कर्मों के फल और सङ्ग को त्यागता हुआ, सम्पूर्ण यज्ञार्थ कर्म करता हुआ भी नहीं करता है तथा :—

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥

जीत लिया है अन्तःकरण और शरीर जिसने त्याग दी हैं सम्पूर्ण भोगों की सामिग्री जिसने (ऐसा) आशा रहित केवल शरीर सम्बंधी कर्म को करता हुआ पाप को नहीं प्राप्त होता है।

जो मनसा-वाचा-कर्मणा इन्द्रियों, मन और शरीर को जीत कर, बुद्धि को भली प्रकार आत्मा में स्थित कर चुका है तथा आशा, आकाँक्षा आदि के चिन्तन मात्र से भी पूर्ण रूप मुक्त हुआ, केवल शरीर सम्बंधी यज्ञ कर्म मात्र यज्ञ-हितार्थ ही करता है, ऐसा परम ज्ञानी कभी भी पाप को प्राप्त नहीं होता है।

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्व तीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निवध्यते ॥२२॥

अपने आप जो कुछ प्राप्त हो उसी में सन्तुष्ट रहने वाला, हर्ष शोकादि द्वन्द्वो से अतीत हुआ ईर्ष्या से रहित सिद्धि और असिद्धि में समत्व भाव वाला पुरुष कर्मों को करके भी नहीं बंधता है।

जो बाह्य चिन्तन से विरक्त है; सदा आत्मा में ही स्थित है तथा सर्वदा सन्तुष्ट है, ऐसा महापुरुष कर्मों को करता हुआ अकर्ता है और कर्मफल रूप पुण्य और पाप दोनों से ही ऊपर है।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥

आसक्ति से रहित, ज्ञान में स्थित हुये चित्त वाले, यज्ञ मात्र के लिये आचरण करने वाले, मुक्तपुरुष के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।

इसीलिये हे अर्जुन! तू सम्पूर्ण आसक्ति, अज्ञान एवं तथाकथित स्वजनों रुपी माया को, यज्ञ कुण्ड के सम्मुख, यज्ञोपवीत को हाथ में लेकर मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग कर आसक्ति रहित हुआ, नित्य आत्मज्ञान में स्थित, यज्ञ मात्र के लिये ही कर्म कर। इससे तू कभी पाप को प्राप्त नही होगा।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रम्हकर्मसमाधिना ॥२४॥

अर्पण भी ब्रह्म है हवि भी ब्रह्म है ब्रह्मरुप अग्नि में ब्रह्मरुप कर्ता द्वारा हवन किया गया है (वह भी ब्रह्म ही है) ब्रह्म रुप कर्म में समाधिस्थ हुए उस पुरुष द्वारा, प्राप्त होने योग्य (कर्म) ब्रह्म ही है।

अर्पण अर्थात् स्नुवादिक भी ब्रह्म है और हवि अर्थात् हवन करने योग्य सामिग्री भी ब्रह्म है। यज्ञ का कर्ता भी ब्रह्म है तथा यज्ञ कुण्ड भी ब्रह्म है तो ब्रह्म रुप यज्ञ कर्म में हो यज्ञार्थ किये गये कर्म भी ब्रह्मार्पण होने से ब्रह्म है उसका अर्थात् यज्ञार्थ कर्म समाधिस्थ का फल भी तो ब्रह्म ही होगा—पाप कैसे हो सकता है ?

इसलिये जो महात्माजन केवल ब्रह्मार्पण (अर्थात् आत्मा, जो तत्व रूप ब्रह्म है) के लिए यज्ञार्थ कर्म करते हुये ; ब्रह्म अर्थात् आत्मा में ही समाधिस्थ रहते हैं, उन्हें पाप नहीं होता है। उन्हें कर्म का दोष नहीं होता है। परन्तु इसके विपरीत कर्म करने वाले और गीता को अपमानित कर इन्द्रियोचित लिप्सार्थ कर्म को ही कर्म बताने वाले, मानने वाले तथा करने वाले जघन्य पापी, धर्मद्रोही, ईश्वरद्रोही और अधोगतियों को जाने वाले हैं। उनके प्रचार तथा आचरण दोनों ही मिथ्या हैं। उनका स्वांत: सुखाय

योगीवाद, कोरा विदूषकवाद है। वे कुछ भी तप न अर्जित कर केवल 'अहं' रूप पाप एवं अज्ञान रूप अन्धता को ही धारण करते विदूषक के, योगीपने का नाटक करते, अन्धे काल द्वारा निगलकर, लुप्त कर दिये जाते हैं।

इसलिये हे अर्जुन ! विदूषकत्व रूपी अजान को त्याग और यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव को धारणकर युद्ध कर प्रलयंकर !

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

दूसरे योगीजन आत्मा के यज्ञ को ही (समाधिस्थ) उपासते हैं। दूसरे आत्मारूपी यज्ञ की अग्नि के द्वारा यज्ञ के हेतु (शरीर को) यज्ञ करते हैं।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जह्वति ॥२६॥

श्रोत्रादिक अर्थात् सब इन्द्रियों को संयन रूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् नियन्त्रित कर, विषयों से रोक कर समाधिस्थ होते हैं और दूसरे योगी लोग शब्दादिक विषयों को इन्द्रिय रूप अग्नि में (ही) हवन करते हैं और राग द्वेष रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण करते हुए भी भस्म करते हुये, समाधिस्थ होते हैं।

सर्वाणीन्द्रिय कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

दूसरे योगीजन सम्पूर्ण इन्द्रियों की चेष्टाओं को तथा प्राणों के व्यापार को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्म संयम रूपी योगाग्नि (बुद्धि और आत्मा का मिलन = योग) में हवन करते, समाधिस्थ होते हैं।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

दूसरे (कई पुरुष) द्रव्य यज्ञ तथा तप यज्ञ द्वारा, योग यज्ञ (आत्म यज्ञ) करने वाले हैं और अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतों से युक्त यत्नशील पुरुष स्वाध्याय रूपी ज्ञान यज्ञ (आत्म ज्ञात की प्राप्ति) को करते हुए समाधिस्थ (आत्म-स्थित) होते हैं।

अर्थात् बहुत से महात्मा जन अनासक्त, स्पृहारहित भाव से द्रव्यादि कर्मों को आत्मस्थित होते हुए, निरन्तर आत्मा में तप का यज्ञ करते हुए, समाधिस्थ (आत्म में एकीभाव से स्थित) होते हैं। अन्य इन्द्रियों की हिंसक, विषैली वृत्तियों को तीक्ष्ण संयम रुपी व्रतों से साधकर यत्न पूर्वक स्वाध्याय द्वारा आत्म ज्ञान को प्राप्त हो बुद्धि और आत्मा के द्वैत को योग द्वारा अद्वैत कर आत्मा में सदैव के लिए स्थापित होते हैं

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगति रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२६॥

अपान वायु में प्राण वायु को हवन करते हैं वैसे ही प्राण वायु में अपान वायु को हवन करते हैं। अन्य प्राण और अपान की गति को रोककर प्राणायाम के परायण होते हैं।

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

दूसरे नियमित आहार करने वाले प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं इस प्रकार यज्ञों द्वारा नाश हो गया हैं पाप जिनका (ऐसे) यह सब ही यज्ञों को जानने वाले हैं।

अर्थात् प्राणों में अपान को युग्म कर अथवा अपान में प्राणों को युग्म कर समाधिस्थ होना, अथवा प्राण और अपान दोनों को ही स्थिर कर आत्म स्थित होना अथवा आहार द्वारा प्राणों में सामिग्री को हवन करते समाधिस्थ होना आदि मार्गों द्वारा यज्ञ अर्थात् आत्मा में एकीभाव से स्थापित हो, शरीर रूपी सामग्री को आत्मा रूपी यज्ञकुण्ड में यज्ञ करने वाले योगीजन ही यज्ञ अर्थात् आत्मा को जानने वाले हैं तथा मोक्ष मार्गी हैं।

यहाँ यदि आप ध्यानपूर्वक सम्पूर्ण मार्गों को देखेंगे तो पायेंगे कि सभी में मात्र दिखाऊ भिन्नता है अन्यथा सभी एक ही हैं। सड़क एक है, उस पर चलने वाले पुरूषों में कोई लाठी का सहारा लेकर चल रहा है, कोई छड़ी लिये है, किसी के हाथ में सहारे के लिए भाला है तो कोई पेड़ की सूखी टहनी लिये है तथा कोई बिना सहारे ही चल रहा है।

यह सड़क है योगमार्ग की ! सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन को नष्ट कर आत्मा में एकीभाव से स्थित होने की।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिये कि इन्द्रियोचित बहिर्मुखी तथाकथित परधर्म के मार्ग भी योगमार्ग ही हैं।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥

हे कुरूश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ रूप ज्ञानामृत को भोगने वाले योगीजन सनातन ब्रह्म अर्थात् आत्मा (जो तत्व रूप ब्रह्म है, सृजक रूप विष्णु है तथा संहारक रूप रूद्र है अ+उ+म्=ॐ) को प्राप्त होते हैं और यज्ञ रहित पुरूष को यह लोक नहीं है फिर परलोक कैसे (सुखकर होगा)

जिन्होंने यज्ञ अर्थात् आत्मा की प्राप्ति के मार्ग को परिणाम रुप ग्रहण कर लिया हैं और आत्म ज्ञान रूपी अमृत का पान कर लिया है अर्थात् योग में स्थापित होने का संकल्प कार्य रुप में परिणित कर दिया है 'ऐसे सनातन अर्थात् अमर योगी ही आत्मा को प्राप्त हो परमात्मा में लय होते हैं।

यज्ञ रहित अर्थात् आत्मज्ञान, आत्म मार्ग तथा संकल्प से रहित परधर्म अर्थात् इन्द्रियोचित बहिर्मुखी धर्म का आचरण करते हुये तथाकथित स्वजनों की तथाकथीत सेवा में लिप्त इन्द्रियों का भक्त, अज्ञानी पुरुष तो आजीवन ही लिप्साओं से भ्रमित, विक्षिप्त, अशान्त तथा नाना चिन्ताओं में फसे भटकते रहते हैं। ऐसे मनुष्य को सुख और शान्ति कहाँ ? जिसे शान्ति नहीं वह भक्त कैसा ? यदि शान्त, निश्चिन्त हो तप द्वारा यह लोक नहीं पाया तो दुःखी, त्रस्त को परलोक में तो नरक ही मिलेगा।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

ऐसे बहुत से यज्ञ वेद की वाणी में विस्तार किये गये हैं उन सबको शरीर, मन और इन्द्रियों की क्रिया द्वारा ही उत्पन्न होने वाले जान (अर्थात् स्पृहा रहित कर्म)। इस प्रकार (तत्त्व से) जानकर (यज्ञार्थ कर्म तथा आत्मस्थ होना रूपी योग द्वारा) सन्सार बन्धन से मुक्त हो जायेगा।

स्पष्ट करें इसी प्रकार ऊपर दिये गये उपदेश का अक्षरशः पालन करता हुआ शरीर, मन और इन्द्रियों से मात्र स्पृहारहित यज्ञार्थ कर्म करता हुआ, निरन्तर वाह्य जगत को मारता (त्यागता) अन्तर्मुखी होता, आत्मा से योग द्वारा अद्वैत

करता — — — शरीर सामिग्री को आत्मकुण्ड में यज्ञ करता— — —सशरीर तेज में बदल— — —मोक्ष को प्राप्त हो।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥

हे अर्जुन! सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ से ज्ञान रूप यज्ञ श्रेष्ठ है (क्योंकि) हे पार्थ! सम्पूर्ण यावन्मात्र कर्म, ज्ञान मे शेष होते हैं।

ज्ञान हो उनकी पराकाष्ठा है क्योंकि लक्ष्य का स्पष्ट ज्ञान हुये बिना तू क्या करेगा, क्या सिद्ध होगा अथवा कहां जायेगा ? लक्ष्यहीन को प्राप्त क्या होगा— —मात्र भटकाव !

इसलिये सम्पूर्ण सांसारिक वस्तुओं से सिद्ध होने वाले यज्ञ से ज्ञान रुपी आत्म-यज्ञ परम श्रेष्ठ है। इसलिये आत्मा ही यज्ञ कुण्ड हो, शरीर ही सामिग्री हो और तू सत्यनिष्ठ बुद्धि ही पुजारी हो। शरीर, मन और इद्रियों में व्याप्त काम, क्रोध, राग द्वेष, लिप्सा बहिर्मुखी चिन्तन— —रूपी अज्ञान को— —आत्मज्ञान रुपी तीक्ष्ण बाणों से नष्ट कर— —आत्म यज्ञ कर ! सम्पूर्ण ज्ञान मार्गों का यही मात्र लक्ष्य है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः ॥३४॥

भली प्रकार दण्डवत् प्रणाम, सेवा और निष्कपट भाव से किये हुए प्रश्न द्वारा उस ज्ञान को जान, वे मर्म को जानने वाले ज्ञानीजन, ज्ञान का उपदेश करेंगे।

महाप्रभु का उपरोक्त उपदेश बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिये। क्योंकि इस कुंजी को भली प्रकार जाने बिना व्यक्ति भ्रान्तियों को ही सत्य ज़ानता, अपने ही रंग से रंगे चश्मे को धारण कर, ज्ञान के तत्त्व से शून्य, मूर्ख, दम्भी और अहं से अन्धा बना सर्वत्र ऐसा ही मानता फिरता है और विदूषक बना, भांड की तरह अनर्गल प्रलाप करता, जीवन के बहुमूल्य क्षणों को व्यर्थ ही नष्ट कर देता है।

दम्भी को सरल, सहज और दम्भरहित व्यक्ति में भी दम्भ ही दिखेगा। व्यभिचारी को सदा परम जितेन्द्रिय सन्यासी में भी सन्देह करने के अकाट्य (उसी

की मान्यता से) कारण मिल जावेंगे। धूर्त को समाधिस्थ योगी में भी धूर्तता का आवरण मिल जावेगा। इस प्रकार हर महापुरुष में भी दुर्गुणी महानुभावों को दुर्गुण ही दुर्गुण मिल जावेंगे।

गुरु द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर से कहा कि अपने से अधिक दुर्गुणी व्यक्ति को खोज लाओ। सर्वत्र अच्छाईयां हो देखने वाला युधिष्ठिर प्रत्येक व्यक्ति में अच्छाईयां देखता, असफल लौट आया। उसे अपने से अधिक खराब व्यक्ति कहीं मिला ही नहीं। दुर्योधन को गुरु ने भेजा कि अपने से अच्छा व्यक्ति खोज लाओ। छिद्रान्वेषी, दम्भी दुर्योधन को प्रत्येक व्यक्ति दुर्गुणी ही नजर आया और स्वयं दुर्गुणों की खान दुर्योधन असफल लौट आया। उसे कोई भी व्यक्ति अच्छा नहीं दिखा।

यह रंगीन चश्मा कितना अन्धा कर देता है कि दम्भी को भी सहज, सरल, परमपूज्य ब्रह्मर्षि में दम्भ नजर आने लगता है। ऐसे परम् दिव्य नित्य स्मरणीय महर्षि जिन्होंने सर्वस्व त्याग, एक मचान पर तप किया; उन महाप्रभु साक्षात् ब्रह्मर्षि में भी अहम् नजर आने लगता है। ऐसा एक उदाहरण प्रस्तुत है।

एक मित्र जिन्हें पुस्तकों का भला ज्ञान है तथा आत्म मार्ग में परम् उत्कन्ठा भी है वे कहने लगे, "अरे! बाबा में तो बहुत (इगो) अहम् है। जबर्दस्ती सबसे प्रणाम करवाते हैं।"

हमारे मित्र बेचारे अपने अहम् के चश्मे से जान ही न पाये कि यह अहम् उनका था जो कुण्ठित हो गया था। सन्यासी के पास लोग प्रणाम करने इसलिए जाते हैं जिससे उनके अहम् का नाश हो और वे अहम् रूपी पाप से मुक्त हो सकें। पहचान सकें कि मैं दाने-दाने का भिखमंगा हूँ। यदि मुझ भिखमंगे को कुछ सम्मान मिला है तो श्रीहरि की परम् अनुकम्पा से ही मिला है। इसलिए अहम् रूपी पाप को मुझे अहम् रहित सन्यासी के चरणों में लोट कर नष्ट कर देना चाहिए।

अहम् नष्ट करने के लिए सन्यासी ही क्यों? इसलिये कि सन्यासी ही अहम् रहित हो उस अहम् को अपने तप से नष्ट करने में सक्षम है। यदि यही प्रक्रिया किसी साँसारिक व्यक्ति के सम्मुख करेंगे तो सम्मान की निस्सारिता के ज्ञान से रहित, वह साँसारिक पुरूष दम्भी होकर पाप को प्राप्त होगा। इसलिए मनुष्य सन्यासी के सम्मुख अपने अहं रुपी पाप को नष्ट करने जाते हैं न कि उससे सन्यासी को

कोई आत्मिक अथवा भौतिक लाभ होता है। श्री हरि के सम्मुख नित्य स्थापित
योगी उस अहं रुपी पाप को ज्यूं का त्यूं श्री हरि रूपी यज्ञ-कुण्ड में भस्म कर देता है।

इसी प्रकार के अनेकों उदाहरण आपको देखने को मिलेंगे। मुफ्त में बंटती
किताबों को मुफ्त बंटवाने वाला व्यक्ति ही धन्धें और मुनाफे की कल्पना कर बैठता
है। अपने ही चश्मे से रंगा जन-जन के चरण सेवक में अहं रूपी महापाप को खोजने
लगता है तथा जानबूझ कर सत्य और तर्क को मूर्खतापूर्ण अनोखे मोड़ देकर गल्तियां
ढूंढ़ने की धृष्टता कर बैठता है।

इसमें साधारणतः उसकी प्रवृत्तियां और संस्कार ही दोषी हैं। माया संसार
के रूपहले सागर में रहते हुए विचारधाराओं का विक्षिप्त हो जाना लगभग स्वाभाविक
और साधारण बात है। ऐसे ही श्री हरि के अनन्य प्रेमी पूज्य भक्तों को, इस
भोलेपन का ज्ञान कराने के लिये ही श्री हरि ने उपरोक्त श्लोक कहा है। इस श्लोक को
रोम-रोम में समा लेना चाहिये जिससे दृष्टिदोष न होवे।

इसलिए हे सत्यखोजी बुद्धे ! भली प्रकार अर्थात् पूर्ण आस्था एवं श्रद्धा पूर्वक
दण्डवत् प्रणाम करके, सेवा से युक्त, कपट, कुतर्क और दृष्टिदोष से रहित, एक छात्र की
भाँति, प्रश्न को पूंछ और ऐसे प्रश्नों द्वारा उस दुर्लभ ज्ञान को जान ! वे परम्
योगी, परम सन्यासी तुझे उस अति दुर्लभ ज्ञान का उपदेश करेंगे।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

जिसको जानकर (तू) फिर इस प्रकार मोह को नहीं प्राप्त होगा। (और) हे
अर्जुन ! जिस ज्ञान के द्वारा (सर्व व्यापी अनन्त चेतन रुप हुआ) तू अपनी आत्मा में
ही सम्पूर्ण भूतों को देखेगा। उसके उपरांत आत्मा के ही, आत्मानन्द में (स्थापित
हो जावेगा)।

इसलिए हे परंतप ! ज्ञान मार्ग के महत्व को तथा माया संसार की निस्सारता
को जानता हुआ आत्मप्राप्ति हेतु युद्ध कर ! सम्पूण वाह्य चिन्तन को नष्ट करता
हुआ, उस अमर आत्मा में ही सब कुछ देखता, मुझ परमात्मा में लय हो जा !

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

यदि (तू) सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है (तो भी) ज्ञानरूप नौका द्वारा निःसन्देह सम्पूर्ण पापों को अच्छी प्रकार तर जायेगा।

इसलिये इस परम् उत्तम ज्ञाम मार्ग का आचरण कर।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

हे अर्जुन ! जैसे प्रज्जवलित अग्नि इन्धन को भस्ममय कर देता है वैसे ही ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देता है।

इसलिये आत्म ज्ञान रुपी अग्नि को प्रज्जवलित कर !

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह (कुछ भी) नहीं है। उस ज्ञान को कितने काल से अपने आप योग द्वारा शुद्धान्तः करण हुआ पुरूष आत्मा में अनुभव करता है। इसलिये तू योग द्वारा इसी ज्ञान मार्ग को प्राप्त हो और स्वयं आत्मा में अनुभव कर।

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परांशान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान पुरूष ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त होकर तत्क्षण परम् शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

इसलिये तू जितेन्द्रिय, श्रद्धावान और आत्मज्ञान से पूर्ण होकर परम् शान्ति रुपी आत्मा को प्राप्त होता हुआ, शरीर सामिग्री को आत्म-यज्ञ-कुण्ड में अर्पित करने हेतु सम्पूर्ण बाधाओं को नष्ट कर दे।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च सशंयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

अज्ञानी तथा श्रद्धारहित और संशय युक्त पुरूष भ्रष्ट हो जाते हैं (उनमें भी) संशय युक्त पुरुष के लिये न सुख है, न यह लोक है, न परलोक है।

संशय युक्त अज्ञानी और श्रद्धा रहित पुरुष तो व्यर्थ ही जीता है। उसके लिये यह लोक भी भ्रष्ट है और परलोक भी भ्रष्ट है। इसलिये छिद्रान्वेषण, त्रुटियां ढ़ढ़ना,

संशयात्मक बुद्धि को धारण करना स्वयं को भ्रष्ट करना है तथा दृष्टिदोष को उत्पन्न कर सर्वत्र पाप ही ढूँढ़ना, भोगना एवं पाप योनियों में गमन करना है। इसलिये तू श्रद्धा तथा ज्ञान युक्त हो, संशय रहित हो। यही तेरे लिये उत्तम है।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

हे धनंजय! योग द्वारा आत्म अर्पण कर दिये हैं सम्पूर्ण कर्म जिसने (और) ज्ञान द्वारा नष्ट हो गये हैं सब संशय जिसके ऐसे आत्मपरायण पुरूष को कर्म नहीं बांधते हैं।

इसलिये तू योग द्वारा सम्पूर्ण कर्मों की क्रियात्मकता को आत्मा के लिए अर्पित कर दे और ज्ञान को धारण कर सम्पूर्ण संशयों को नष्ट करता आत्मपरायण हुआ, आत्मा में ही सम्पूर्ण कर्मों को यज्ञ करता हुआ समाधिस्थ हो जा।

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

इससे हे भरतवंशी अर्जुन! आत्मयोग में स्थित हो (और) अज्ञान से उत्पन्न हुए हृदय में स्थित इस अपने संशय को ज्ञान रुप तलवार द्वारा छेदन करके (युद्ध के लिये) खड़ा हो।

ज्ञान रूपी तलवार; यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव; त्याग और वैराग्य के पैने बाण तप रूपी शक्ति; तेज रूपी आग्नेयास्त्र; यज्ञ रूपी शंखध्वनि; शरीर रूपी रथ; धर्म ज्ञानरुपी धर्मबुद्धि युधिष्ठर, संकल्प रूपी भीम, लक्ष्य-निर्णायक-बुद्धि रूपी अर्जुन; ज्ञान बुद्धि रूपी नकुल; भक्ति बुद्धि रूपी सहदेव; आत्मा रुपी सारथि कृष्ण; पाँच तत्व से निर्मित पाण्डु रूपी शरीर जिसकी चेतना रूपी पत्नी कुन्ती; पाँच बुद्धियों की उभय पत्नी द्रौपदी रूपी संज्ञा; अभिमन्यु (अभि=सन्मुख; मन्यु=यज्ञ अग्नि) रूपी निर्णय पुत्र (शरीर सामग्री को यज्ञ अग्नि में प्रवेश कराना); युद्ध की सामिग्री और योद्धा हैं!

युद्ध क्या है? दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ; अन्तर्मुखी हो, शरीर सामिग्री को आत्मा-हवन-कुण्ड में यज्ञ कर ---योग द्वारा मरणशील बुद्धि को अमर आत्मा से अद्वैत कर---यज्ञ के रहस्य को जान---अमरत्व में लय हो जाना।

इसीलिये इस युद्ध का नाम धर्मयुद्ध है। यह युद्ध भौतिक लक्ष्यों के लिये कदापि नहीं हो रहा है -- यह युद्ध हो रहा है भौतिकता के विपरीत मनुष्य जीवन के स्वाभाविक लक्ष्य मोक्ष के लिये। इस युद्ध में तो योद्धा को सम्पूर्ण वाह्य को खोकर--जीतना है सिर्फ स्वयं को ! पाना है सिर्फ स्वयं को ! यज्ञकुण्ड को प्रलयंकर ज्वालाओं में भस्मसात् करना है सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन रुपी भटकाव, मेरा, तेरा, राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, काम, क्रोध, मोह, आनन्द, भय, क्षोभ, दुःख, लिप्सा, वासना तथा सभी प्रकार का वाह्य बन्धन !

पिछले चारों अध्यायों के सूक्ष्म विवेचन से स्पष्ट हुआ कि सम्पूर्ण पात्र वाद के प्रतीक हैं; न कि व्यक्ति के। काल नाम धृतराष्ट्र और स्वयं को अन्धा करने की प्रवृत्ति अर्थात् आँखों पर माया की काली पट्टी बांधने की प्रवृत्ति का नाम गान्धारी है। इनके सौ पुत्र धार्तराष्ट्र हैं जिनका शब्द कोष अर्थ है "वे हंस से सुन्दर पक्षी जिनके चोंच और पजे काले हैं।" इन पक्षियों की विशेषता यह है कि ये जीवधारी को जीवित पकड़ कर नोचते हैं तथा चूसते हैं-- परन्तु जब वह जीवधारो मर जाता है तो उसे छोड़ देते हैं। धार्तराष्ट्रों द्वारा छोड़ दिये गये मुरदा शरीरों को पुनः द्रोण अर्थात् मुरदा खोर पहाड़ी कौवे नोचते हैं। द्रोण यहाँ गुरूवाद का प्रतीक है।

इसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि धार्तराष्ट्रों अर्थात् लिप्साओं वासनाओं ने जिन्हें मारा, उन्हें द्रोणों अर्थात् मुरदाखोर कौवों ने नोचा। द्रोण यहाँ भौतिक गुरूडम का प्रतीक है। आध्यात्मिक गुरुडम का प्रतीक तो कृष्ण हैं। भीष्म का अर्थ भी राक्षस है। पिछले अध्यायों में (पहले और दूसरे में विशेषकर) स्पष्ट कर चुके हैं। इनके अतिरिक्त अन्य उदाहरण देते हैं।

राजा शान्तनु ने गंगा से शादी की। कथा इस प्रकार है कि गंगा नदी ने स्त्री का रुप धारण कर पाण्डवों के पूर्वज राजा शान्तनु को मोह लिया और उनसे विवाह कर लिया। विवाह के समय गंगा रूपी स्त्री ने राजा शान्तनु से यह प्रतिज्ञा ली कि राजा उससे यह नहीं पूछेंगें कि वह स्त्री कौन है तथा उस स्त्रो के मन में जो

आवेगा करेगी, राजा उसके किसी भी कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगें। यदि राजा ऐसा करेंगे तो वह सुन्दरी राजा को त्याग कर चली जावेगी। राजा शान्तनु मान गये और स्त्री रुप धारण करने वाली गंगा से शादी कर ली। इस दाम्पत्य से आठ सन्तानें उत्पन्न हुई। प्रत्येक पुत्र के उत्पन्न होते ही गंगा रूपी स्त्री अपनी सन्तान को नदी में फेंक कर मार देती थी। राजा शान्तनु असहाय, प्रतिज्ञाबद्ध देखते रह जाते थे। उनका अन्तर हाहाकार तो करता था परन्तु मोहवश बोल न पाते थे। इस प्रकार उस स्त्री ने सात पुत्रों को डुबा कर मार दिया। आठवें पुत्र देवव्रत को जब मारने जा रही थी तो राजा का धैर्य जवाब दे गया। उन्होंने उसे ऐसा करने से रोका तथा अपशब्द कहे। स्त्री ने कहा 'राजन् तुमने प्रतिज्ञा भंग की। अब मुझे जाना होगा।'

राजा बोले, "देवी ! तुम अवश्य जाओ परन्तु यह तो बता दो कि तुम कौन हो तथा कृपा पूर्वक अपना आठवां पुत्र तो मुझे दे दो।"

स्त्री ने कहा, "राजन् ऐसा ही होगा। मैं गंगा हूँ। यह आठों पुत्र वसु हैं जो अभिशप्त हुये थे। इन्होंने मुझसे प्रार्थना की थी कि मैं इनकी माता बनूं और शीघ्र इनका उद्धार करूँ। यह जो आठवां वसु देवव्रत है इसे भोगना है इसलिये इसे तुम्हें सौपे जा रही हूँ। यह भीष्म के नाम से प्रसिद्ध होगा और महाभारत में बाणों की शैय्या पर लेटकर प्रायश्चित करेगा।" यह कहकर गंगा फिर गंगा हो गई। किसी नदी का स्त्री रूप धारण कर, सन्तानोत्त्पत्ति करना; कोई ऐतिहासिक घटना होना, क्या सम्भव है ?

जो शुभ्र-शान्त-धवल खड़ा है सो शान्तनु है हिमालय ! राजा हिमालय ! राजा हिमालय रूपी शान्तनु ने गंगा रूपी स्त्री से विवाह किया। सात पुत्र शान्तनु के अपने में समेट चल दो गंगा ! देखता रह गया हिमालय शान्तनु ! जी हाँ ! सात नदियाँ आज भी गंगा में मिलती हैं। इस प्रकार शान्तनु अर्थात् हिमालय की बर्फ के सात पुत्रों रूपी नदियों को ले जाती हैं गंगा अर्थात् हिमालय की पत्नी।

आठवाँ महानद है भीष्म ! भीष्मा नामक नदी आज भी है जो देवव्रत है। देव का अर्थ है उत्तर और व्रत का अर्थ है सम्मुख। जो उत्तरमुखी है उसे संस्कृत में देवव्रत कहते हैं। भीष्मा नदी उत्तरमुखी है तथा उत्तर जाने से गंगा के विपरीत है। गंगा दक्षिण जाती है। इस प्रकार गंगा आठवाँ पुत्र हिमालय शान्तनु को सौंप देती है। उत्तरमुख होने के कारण भीष्मा नदी छह महीने तक बर्फ का ग्लेशियर बन जाती है। छह महीने बाणों की शैय्या पर सोता है भीष्म ! मकर संक्रान्ति के दिन बर्फ पिघलने लगती है तो उद्धार होता भीष्मा नदी का अथवा बाणों पर लेटे भीष्म का।

इसी प्रकार कौरवों का जन्म एक पिण्ड से होता है ; क्यों ? धार्तराष्ट्र पक्षी अण्डों से ही उत्पन्न होता है। कौरवों का दूसरा पर्यायवाची धार्तराष्ट्र है।

इन सारे प्रमाणों से सिद्ध होता है कि महाभारत तथा श्रीमद्भगवद्गीता विशुद्ध धर्म की पुस्तकें हैं, इनका इतिहास की मरणशीलता से सम्बन्ध नहीं है। युद्ध तथा अन्य उपमायें मात्र तत्व के स्पष्टीकरण हेतु ली गयी हैं तथा आध्यात्म के स्पष्टीकरण हेतु हो उनका इच्छानुकुल प्रयोग किया गया है। क्या महाभारत युद्ध नहीं हुआ ?

यह एक प्रश्न आज युग के सामने है। इसे स्पष्ट करे कि यदि ऐसा भयावह युद्ध न हुआ होता तो उसे उपमा में क्यों ग्रहण करते ? उपमा में उसी बात को ही ग्रहण किया जाता है जिसे प्रत्येक व्यक्ति भली प्रकार जानता हो। इससे स्पष्ट है कि ऐसा भयंकर युद्ध अवश्य हुआ अन्यथा इसे तत्व स्पष्टीकरण हेतु उपमा में ग्रहण नहीं करते। उपमा में वही घटनायें ली जाती है जिनके विषय में लोग भलीभांति अवगत हों।

दूसरा प्रमाण है कि यदि भयंकर नर संहार न हुआ होता और संस्कृति नष्ट न हुई होती तो हमें वैदिक संस्कृत से हटकर पाणिनी संस्कृत पर क्यों आना पड़ता ? भाषा का नाश तो भयंकर संस्कृति विनाश द्वारा ही सम्भव है।

इस प्रकार के कई प्रमाण "सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि' के सातवें अध्याय में दिये हैं जिनसे स्पष्ट है कि भयंकर युद्ध हुआ।

परन्तु इन पुस्तको में युद्ध का संकेत मात्र है तथा घटनाक्रम एवं पात्र आत्म तत्व के स्पष्टीकरण हेतु ही क्रमबद्ध किये गये हैं। इनमें इतिहास ढूंढ़ना नितान्त हास्या-स्पद कार्य है। आध्यात्म की पुस्तकों में अध्यात्म ढूंढ़ना ही बुद्धिमान व्यक्ति को उचित है। इतिहास में ही इतिहास खोजना बुद्धिमानी का काम है।

महाभारत का चौथा दिन ! श्रीमद्भगवद्गीता का चौथा अध्याय ! धार्तराष्ट्रों के शिविरों में छायी है मुर्दनी ! झाँझ मंजीरों की झनकार, ढोलक की थाप और गोविन्द की बांसुरी सुन--संग हमारे !

सूर्य देव अस्ताचल प्रयाण कर रहे हैं। शोणित रश्मियों से युद्ध स्थल का मूक निरीक्षण करते पश्चिम में झुकते जा रहे हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी अमृतमयी गंगा की पवित्र, स्निग्ध, कल-कल निनादित लहरों पर झूम रही है नाव मस्त ग्वालों की। संसार बहुत पीछे छूटता जा रहा है। भीतर बाहर जगमग है। सूर्य के डूबने पर भी यहां अन्धकार होता नहीं है। तत्सवितु आत्मा सूर्य का प्रकाश सहस्र गुणा है। अब दिन ही रहेगा। रात्रि का प्रश्न कहां ! आहत मायायें छूट गयी हैं पीछे। भ्रम का अंधेरा भाग गया है। अब तो परछाई भी अपनी संग छोड़कर भाग गई है----दहक रहे शरीर ! अंग-अंग !!

खेल और खिलाड़ी की मर्यादा से रूके हैं अन्यथा तत्क्षण स्वाहा कर दें, कौरव सारे ! अट्ठारह दिन को एक क्षण में बदल दें। दहकती ज्वालासम हो उड़ा दें ब्रह्माण्ड सारे और खेलें होली का रंग, क्षीरसागर में !.........

हरि ॐ ! नारायण हरि !!

हरि ॐ ! नारायण हरि !
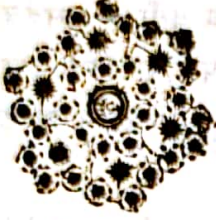
श्रीमद्भगवद्गीता
दिव्य दर्शन

पञ्चमोऽध्यायः

देवाधिदेवो !

आज महाभारत का पांचवा दिन है। श्रीमद्भगवद् गीता के अट्ठारह अध्याय ही माया महासमर रूपी महाभारत के अट्ठारह दिन हैं—जहाँ पाँच तत्वों से बना प्रत्येक शरीर पाण्डु है; पांच बुद्धियाँ पांच पाण्डव हैं—धर्म युधिष्ठिर, संकल्प भीम, लक्ष्य निर्णायक अर्जुन, ज्ञान नकुल, भक्ति सहदेव—यज्ञोपवीत गाण्डीव है, आत्मा कृष्ण सारथि हैं। जहाँ लिप्साओं, भटकाव, तम, भ्रम, काम, क्रोध, लोभ, मोह, भौतिक नाते-रिश्तों का पाखण्ड; ऊँच-नीच के ढोंग और बाह्य चिन्तन के भटकाव—कौरव हैं! माया महासमर में—यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर, त्याग और वैराग्य के पैने बाणों द्वारा सम्पूर्ण बाह्य चिन्तन मात्र को मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग (मार) कर—दस इन्द्रियों रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ— मरणशील बुद्धि का अमर आत्मा से योग कर; शरीर सामिग्री को आत्मा-हवन-कुण्ड में यज्ञ कर—ब्रह्म कपाल से 'अहं ब्रह्मास्मि' और 'सोऽहं' का नाद करते मोक्ष गमन करना अर्थात् कालातीत हो जाना ही मात्र लक्ष्य है।

स्वर्णिम प्रभात की मधुर बेला है। ब्रह्मत्व के शुभत्व को धारण करता रक्ताभ अरुण पूर्व में मोहक यज्ञ कुण्ड सा उभरने लगा है। पेड़ों पर, घास पर, पक्षियों पर सर्वत्र झिलमिलाती स्वर्ण सी किरणें नृत्य करने लगी हैं। नदी का जल कल-कल का निनाद करता स्वर्णिम हो झिलमिलाने लगा है। मन्द समीर की पुष्प मिश्रित गन्ध के साथ खड़खड़ाते पीपल के पत्तों का मन्द हास मोहित कर रहा है। श्रीमद्भगवद्गीता रूपी पावन पुनीत अमृतमयी गंगा में डोलती हिचकोलें लेती हमारी नाव अध्यात्म की लहरों पर उतराती-इतराती-झूमती

बढ़ी जा रही है। घूम रहे हैं हम मस्त योद्धा महासमर के ! पहन युद्ध का केसरिया बाना चल दिये हैं—जीतने युद्ध माया महासमर का ! संसार बहुत पीछे छूट गया है। सम्मुख है तत्सवितुं का ! एक सत्य आत्मा का ! एक कर्म—आत्म-यज्ञार्थ कर्म ! एक योग—मरण शील बुद्धि का अमर आत्मा से ! एक ध्यान—एको कृष्णाः द्वितीयो नास्ति ! एक समाधि—सर्वत्र वही है। सर्वत्र वही है। एक यज्ञ—शरीर सामग्री का आत्मा-यज्ञ-कुण्ड में ! फिर ढल कर इष्ट रूपी साँचे में—करके उत्पन्न स्वयं को, स्वयं से—होकर ब्रह्म कपाल से प्रकट स्वर्गारोहण करना है ! सोऽहं ! सोऽहं !!

कन्हैया संग है हमारे ! भीतर पाण्डव ! बाहर कौरव !! सर्वत्र !! बाहर के नाते तोड़, जियेंगे भीतर संग कन्हाई के। सारे धार्तराष्ट्र और उनके साथी उमड़ रहे हैं। चिंता नहीं है। मस्त, निश्चिन्तता के उन्मुक्त क्षण हमने जीवन के संग सी लिये हैं। युद्ध की भी चिन्ता नहीं है। मौत के गले भी लगेंगे यदि—मुस्कराहट होठों की न जावेगी हमारी !

हम अजेय हैं। हमारी नाव कर्म संन्यास योग की पवित्र धाराओं का स्पर्श पाने को आतुर है। किनारे छूट गये हैं पीछे ! छूट गया है माया संसार का कोलाहल ! रे मन बन दशरथ ! सुन माधव को संग अर्जुन के ! न देख, न सोच ! अब तो देख कन्हाई ! सुन कन्हाई ! बोल कन्हाई !! सोच कन्हाई !! प्यार कर, लिपट जा कन्हाई से !

अर्जुन उवाच

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १॥

हे कृष्ण (आप) कर्मों के संन्यास की और फिर निष्काम कर्म योग की प्रशंसा करते हो (इसलिये) इन दोनों में एक जो निश्चय किया हुआ कल्याण-कारक (होवे) उसको मेरे लिये कहिये।

कृष्ण को समर्पित हो गया अर्जुन ! अहो आत्मा को समर्पित निर्णायक सत्यनिष्ठ बुद्धि ! पूछ रही है कि आत्मा माधव ! हे अध्यात्म की पवित्र गंगा बहाने वाले ! हे कृष्ण ! हे मोक्ष को करने वाले ! हे संशयों के तम का ज्वाला सम भक्षण करने वाले ! कर्म संन्यास और निष्काम कर्मयोग में कौन-सा मार्ग मेरे लिये उत्तम है ? क्योंकि आप दोनों की ही प्रशंसा करते हैं ? इनमें किस मार्ग का अनुसरण करना उचित है। मेरा मार्ग-दर्शन करें ! किस

मार्ग से चलूं कि मेरा आपसे अद्वैत हो जाये। किस प्रकार बुद्धि और आत्मा के मध्य व्याप्त माया रूपी द्वैत की भ्रमात्मक दीवार को आत्म कुण्ड में यज्ञकर बुद्धि और आत्मा के द्वैत को अद्वैत कर सकूं। ऐसा सुगम, सरल तथा शीघ्र ही प्राप्त होनेवाला मार्ग मुझे दिखाइये।

श्रीभगवानुवाच

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

इस प्रकार अर्जुन के पूछने पर भगवान् श्रीकृष्ण महाराज ने समाधान किया—

संन्यास और कर्म-योग यह दोनों ही परम कल्याण के करनेवाले हैं परन्तु उन दोनों में भी कर्म संन्यास से कर्म योग श्रेष्ठ है।

कर्म संन्यास से आत्म-यज्ञार्थ निष्काम कर्म योग क्यों श्रेष्ठ है? इसलिये कि कर्म संन्यास अति कठिन है जब कि निष्काम-कर्मयोग सुगम है। परन्तु निष्काम कर्मयोग की पूर्णता तो पुनः संन्यास ही है। क्या कर्म संन्यास और निष्काम कर्मयोग अलग-अलग हैं? नहीं मूर्ख लोग ही इन्हें अलग-अलग बताते हैं न कि पण्डित जन। (इसी अध्याय का ४ श्लोक)

कर्म क्या है? श्रीमद्भगवद्गीता की दृष्टि में आत्म-यज्ञार्थ-निष्काम-कर्म ही कर्म है, शेष पाप रूपी भटकाव है, जैसा कि पिछले अध्यायों में पूरी तरह स्पष्ट हो चुका है। दोनों में अन्तर क्या है?

राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, आसक्ति, ममत्व, लिप्सा, अहं, क्रोध, भय, आतंक, क्षोभ, जबर्दस्ती सताना एवं अनैतिकता से प्रेरित होकर किया गया प्रत्येक कर्म अधम कोटि का पाप है।

मेरे परिवार के भरण-पोषण की भावना, पत्नी-सन्तान की भावना, मेरे माता-पिता की सेवा भावना, अपनी प्रशसा और ख्याति की भावना से प्रेरित होकर किया गया प्रत्येक कर्म पाप है। यह भावनायें ही पाप मूलक हैं। क्यों? इसलिये कि 'मेरी' अर्थात अहं से तथा असत्य से उत्पन्न हैं। असत्य क्यों? जब तुम बून्द रक्त की अपने शरीर में नहीं बना सके; भस्मी से

वनस्पति नहीं बना सके; प्रतिक्षण के भिखमंगे दाने-दाने के मुहताज; सांस-सांस के भिखारी—तुम किसका भरण-पोषण कर रहे हो? अपना भरण-पोषण तो कर नहीं सके और बन गये दाता-दानी! असत्य के ठेकेदार! तब कौन-सा कर्म सही अर्थों में कर्म है?

शरीर की रक्षा के लिये यज्ञ के हेतु भोजन रूपी सामिग्री आत्मा रूपी कृष्ण; अर्थात यज्ञ-कुण्ड को अर्पित करना; न कि स्वाद के लिये पाप को खाना!

शरीर को भगवान कृष्ण का मन्दिर जानते हुये शीत, ताप, रोग, चोट से बचाने के लिये निमित्त हो उपाय करना, न कि सुख, सुविधा, सज्जा ऐश्वर्य के लिये पाप को बटोरना!

लीला जगत में लीला हेतु आत्मा के अवतरण के लिये; मात्र सन्तानोत्पत्ति के लिये ही, पत्नी से संयोग करना, न कि इन्द्रियों के आनन्द हेतु जघन्य पाप को करना!

नन्हें शिशु रूपी मन्दिर में, प्रकट हो गये, माधव मधुसूदन की पूजा, सेवा, स्तुति तथा रक्षा हेतु निमित्त बनना; न कि मेरा बेटा है ऐसा जानकर कर्म करना!

लीला जगत में प्रत्येक शरीर में व्याप्त आत्मा माधव को देखना तथा आत्मा से प्रेरित हो आत्म यज्ञार्थ सेवा करना; न कि मेरा, तेरा, अपने, पराये आदि अधम पापपूर्ण भावनाओं से प्रेरित हो धर्म के नाम पर पापों की गठरी बटोर, पाप योनियों में भटकने चल देना।

आत्म-यज्ञार्थ नित्य नयी वनस्पति, पशु-पक्षियों की सेवा, उत्पत्ति, रक्षा आदि में निमित्त बनना; न कि "उन्हें बेचकर 'अपनी' सन्तान का भरण-पोषण करूँगा" इसी पापी भावना से प्रेरित होकर पाप को कमाना!

आत्म-यज्ञार्थ ही संचय करना; न कि व्यर्थ में पाप को बटोर कर धन-पति, धरापति का स्वांग भर, नितान्त वंचक हो पशु योनियों में भटकने चल देना! अर्थात् शरीर की आवश्यकता भर ही अन्न का संचय कर, आवश्यकता भर ही वस्त्र का संचय करना; आवश्यकता भर ही भूमि तथा निवास का संचय करना; अधिक को आत्म-यज्ञार्थ निष्काम भावना से दान कर देना! स्वयं झोपड़ी में रहकर और शेष बचे धन से सार्वजनिक हित के लिये भवन, मन्दिर, गोशाला, पाठशाला, धर्मशाला आदि आत्म-निमित्त, आत्म-यज्ञार्थ निष्काम भाव से, फल की चाहना न रखते हुये करना। आवश्यकता भर ही

भौतिकता का संचय कर शेष को आत्म-सेवार्थ सार्वजनिक स्थानों को भेंट कर देना ही आत्म-यज्ञार्थ निष्काम कर्मयोग है। इसके विपरीत महापाप है।

वे सम्पूर्ण महानुभाव जो भौतिक गद्दियों से चिपके हैं और योगी बनने का दावा करते हैं, मात्र स्वयं को तथा लोगों को धोखा देनेवाले अधम पापी हैं। उनकी जन सेवा, देश सेवा और जाति सेवा कर्मवाद कुछ नहीं है, सब झूठ है ढोंगवाद है, पाखण्डवाद है। वस्तुत: वे सत्य से एवं निष्काम कर्मयोग से पलायन कर गये अधम पापी हैं। कौन पलायनवादी नहीं है ? जो स्वेच्छा से सम्पूर्ण भौतिकता को तथा उसके आराम को त्यागकर केवल आत्म-यज्ञार्थ ग्रहण करता हुआ आत्म-यज्ञार्थ सेवा तपस्या कर रहा है तथा जिसने भौतिक मान-सम्मान की चाहना को भी त्याग दिया और गद्दियां और महल छोड़ फुटपाथ पर जा बैठा है उसे तुम सत्य रूप निष्काम कर्मयोगी जानो। वही कर्म के मर्म को जानता है, उसी के कर्म को महाप्रभु स्वीकारते हैं। शेष जन तो पाप को खाते हैं। माया के भ्रम से वे बहुत बड़े कर्मकाण्डी, बहुत बड़े नेता, चिन्तक, विचारक और जन-सेवी भासते हैं परन्तु सत्य से वे कर्महीन, दोषी, पलायनवादी और अधम स्वार्थी हैं। यही सत्य की कसौटी है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म जो श्रीहरि के निमित्त उन्हें ही निरन्तर स्मरण करते हुये तथा 'उन्हीं के लिये कर रहा हूँ' ऐसा मनसा-वाचा-कर्मणा जानकर किया गया है आत्म-यज्ञार्थ-निष्काम-कर्म है जो सही अर्थों में कर्म है जिसका उपदेश पिछले सम्पूर्ण अध्यायों में निरन्तर है।

कर्म संन्यासी कौन है ? जिसने सम्पूर्ण मिथ्या जगत के रूपहले नाटक को जान लिया है तथा जो सत्य को सत्य और नाटक को नाटक रूप से जानता; नाट्यशाला की लीला से विरक्त हो सत्य में एकीभाव से स्थित हो गया है। जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त चेतन आत्मा को आत्म-तत्व रूपी सत्य से जानता उसी से अद्वैत करने चल दिया है। उस सत्यधर्मा को संन्यासी कहते हैं। वह स्त्री अथवा पुरुष को लिङ्ग भेद से नहीं जानता है। वह तो जानता है कि प्रत्येक व्यक्ति (चाहे स्त्री, चाहे पुरुष अथवा पशु अथवा वनस्पति) शरीर रूप प्रकृति है जो स्त्री है तथा आत्मा रूप सत्य है सो पुरुष है। यही सर्वत्र है अत: प्रत्येक व्यक्ति (स्वरूप) पुरुष भी है स्त्री भी। संसार मंच पर नाटक हेतु स्त्री और पुरुष का स्वांग भर रहे हैं। जैसे रामलीला में दो मित्र—एक दशरथ बन गया और दूसरा कौशल्या ! पुन: लीला करते, भगवान श्रीरामचन्द्र प्रकट हो गये। प्रत्येक दर्शक जानता है कि वह नाटक देख रहा है।

ठीक इसी प्रकार सत्यधर्मा संन्यासी जानता है कि आज तक कोई भी माँ एक बूंद रक्त की नहीं बना सकी। अँगुली का एक पोरवा नहीं बना सकी तो उसने बालक कब बनाया ? स्पष्ट है कि बालक तो प्रकृति और पुरुष ने लीला द्वारा उत्पन्न किया। माता तो नाटक के कलाकार की भाँति है। सम्पूर्ण जगत तो राम-लीला अथवा कृष्ण-लीला का मंच है और सम्पूर्ण भूत प्राणी, प्रकृति और आत्मा के, सत्य-प्रणय का नाटक मात्र कर रहे हैं। दोनों ही शरीर रूप स्त्री तथा आत्मा रूप पुरुष हैं। प्रकृति और आत्मा की लीला ही सम्पूर्ण व्यक्त अव्यक्त जगत है। जो कुछ भी राजा-रंक से दीखते हैं, मात्र नाट्य का अंग हैं। शतरंज की फड़ पर बिछे एक ही लकड़ी के राजा, वजीर, घोड़े, हाथी, ऊँट, पैदल ! खिलाड़ी के बिना सब लकड़ी—मात्र जड़ लकड़ी; जो कोई भी चाल स्वयं नहीं चल सकती। इसलिये संन्यासी, वह सत्यधर्मा है जो सम्पूर्ण चैतन्य मात्र में आत्मा पुरुष के सत्य को जानता हुआ; पुनः अपने ही आत्मा में सम्पूर्ण भविष्य-अतीत-वर्तमान, जड़-चेतन, लोक, ग्रह, नक्षत्र, ब्रह्माण्ड, सम्पूर्ण भूत प्राणी देखता, आत्मा में ही एकीभाव से स्थित हो गया है।

कर्मयोगी कौन है ? जो संन्यासी की भांति ही लीला जगत को लीला मात्र जानता हुआ; नित्य-सत्य आत्मा में एकीभाव से स्थित हुआ; कर्मों को कर्म से न त्यागकर, उनके चिन्तन से त्यक्त विरक्त हो, कर्तापन के भाव से शून्य तथा सम्पूर्ण का हेतु आत्मा माधव को ही जानता, निरन्तर उन्हीं में स्थित हुआ, निरन्तर संन्यास की ओर बढ़ रहा है। वह संन्यास की ओर कैसे बढ़ रहा है ? जो निरन्तर, भौतिक मिथ्या जगत से विरक्त तथा एकीभाव से आत्म स्थित है, तो वह कहाँ जा रहा है ? स्पष्ट है कि अन्ततोगत्वा वह (जिस सत्य का चिन्तन निरन्तर कर रहा है) उसी आत्मा से अद्वैत करने निरन्तर बढ़ रहा है। इसी की पूर्णता संन्यास और संन्यास की पूर्णता मोक्ष है। इससे स्पष्ट है कि सन्यास अथवा निष्काम कर्मयोग दो अलग मार्ग नहीं हैं, वरन् संन्यास रूपी लक्ष्य को जाने वाले दो मार्गों में एक है। एक मार्ग ब्रह्मचर्य आश्रम से संन्यास को जाने वाला है तथा दूसरा ब्रह्मचर्य से गृहस्थ हो, आत्म-यज्ञार्थ-निष्काम-कर्म करते हुये निरन्तर आत्मा में ही स्थित होते, शेष जगत की कर्म सुधि से छूटकर, नित्य-आत्मा से अद्वैत करने के लिये संन्यास की ओर बढ़ते जाने का है। पहले मार्ग से दूसरा सुगम दीखता है। पहले मार्ग में, आत्म-ज्ञान से जागृत हो, सम्पूर्ण नाट्य कर्म का, मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग कर, आत्म स्थित होना ऐसा कहते हैं। दूसरे में कर्म का

त्याग न कर, कर्म की सुधि से मुक्त हो, आत्म स्थित होते संन्यास को प्राप्त होना बताया गया है। इस प्रकार दोनों मार्गों का लक्ष्य संन्यास ही है तथा सन्यास का लक्ष्य मोक्ष है। आत्म-यज्ञार्थ निष्काम कर्मयोग को धारण कर सन्यासी न होने का वाद स्वय में असत्य एवं भ्रम है। यहाँ तो महारथी का युद्ध ही है किस प्रकार दस इन्द्रियो रूपी दस फन वाले कालिया नाग को नथ; सम्पूर्ण वाह्य चिन्तन मात्र को मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग; अन्तर्मुखी हो—बुद्धि और आत्मा के द्वैत को, योग मार्ग से अद्वैत कर--शरीर सामिग्री को आत्म-कुण्ड कृष्णा: मे यज्ञ कर—कृष्णमय हो--ब्रह्म कपाल से प्रकट होकर—— अमरत्व को धारण करना।

इस प्रकार योग अथवा सन्यास दो अलग फल वाले नहीं हैं अपितु एक ही लक्ष्य के दो मार्ग प्रतीत होते हैं।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

हे अर्जुन ! जो न द्वेष करता है; न आकाक्षा करता है, वह नित्य संन्यासी जानने योग्य है क्योंकि निर्द्वन्द सुख पूर्वक बन्धन से मुक्त हो जाता है।

अहो ! जिसने सर्वस्व आत्मा माधव को समर्पण कर दिया। जिसके चिन्तन का क्षण-क्षण श्रीहरि में ही गुँथ गया। जिसके प्रत्येक कर्म का आदि, मध्य और अन्त श्रीहरि ही हो गये। जो श्रीहरि को ही देखता है; श्रीहरि को ही सुनता है, श्रीहरि से ही बोलता है; प्रत्येक चेष्टा मात्र उन्हीं के लिये तथा उन्हीं में स्थित होकर करता है—उसने तो संसार नाटक का त्याग कर दिया ! भौतिक चिन्तन से मुक्त हो गया ! उसे न द्वेष है और न किसी वस्तु की आकांक्षा ही है। वह तो सर्वत्र माधव को ही देखता है। ऐसा निष्काम कर्मयोगी तो सदा ही सन्यासी है।

इसलिये हे निर्णायक बुद्धे ! यज्ञोपवीत के गाण्डीव पर सम्पूर्ण भौतिक नाते, रिश्ते, मेरा-तेरा आदि पाखण्ड को, त्याग के पैने बाणों से धराशायी करते हुए—दस इन्द्रियों रूपी दसफन वाले कालिया नाग को नथ और अन्त-र्मुखी हो जा ! प्रत्येक कर्म माधव के लिये हो। सड़क पर चल रहा है तो जान परिक्रमा कर रहा हूँ माधव की। जल पी रहा है तो जान उनका चरणा-मृत है। भोजन को महाप्रभु का दिया प्रसाद जानकर ग्रहण कर ! भोजन पकावे तो माधव के लिये ! हर कर्म का आदि-मध्य-अन्त उन्हीं को बना !

फिर झूम संग उन्हीं के ! भूल मिथ्या रिश्ते और मिल सत्य से ! मोहक माधव से ! कान सुने नहीं और बांसुरी गूंजे उनकी ! आँख मुंदी हो और दिखता रहे वह ! होंठ हिलें नहीं और गाये गीत तू झूम-झूम कर ! पांव हिले नहीं और घुंघुरू बजते रहें तेरे; मस्त उन्मुक्त नाचता रहे तू स्थिर समाधि में—संग कन्हाई के !

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

संन्यास और योग को मूर्ख लोग अलग-अलग कहते हैं, न कि पण्डित-जन ! एक में ही अच्छी प्रकार स्थित हुआ दोनों के फल को प्राप्त होता है ।

संन्यास अर्थात् सांख्य अर्थात ज्ञान योग और निष्काम कर्म योग अलग-नहीं हैं वरन एक ही लक्ष्य की प्राप्ति के पर्यायवाची मार्ग हैं, जो भ्रान्ति से अलग-अलग भासते हैं अन्यथा मार्ग भी एक ही है । चाहे ज्ञान मार्ग से सन्यास को प्राप्त हो अथवा निष्काम-कर्मयोग से ज्ञान को प्राप्त होकर, संन्यास को प्राप्त हो । ज्ञान और कर्म में भेद भी भाषावश प्रतीत होता है अन्यथा दोनों शब्द एक दूसरे के पूरक हैं । कर्महीन ज्ञान तो पाखण्डवाद है, रावणवाद है, और ज्ञानहीन कर्म तो नरक का द्वार है । इस प्रकार ज्ञान मार्ग अथवा निष्काम कर्मयोग का मार्ग वस्तुतः एक ही है । इसलिये एक में भी अच्छी प्रकार से स्थित हो गया व्यक्ति दोनों के फलरूप—संन्यास और संन्यास से मोक्ष को प्राप्त होता है ।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥

ज्ञान योगियों द्वारा जो स्थिति प्राप्त की जाती है निष्काम कर्मयोगियों द्वारा वही स्थिति प्राप्त की जाती है । जो पुरुष ज्ञानयोग और निष्काम कर्म-योग को एक ही मानता है वह सत्यरूप जानता है ।

स्पष्ट हो गया कि सांख्य अथवा योग दो अलग मार्ग नहीं वरन् एक ही सत्य की दो वास्तविकतायें हैं । इसलिये दोनों को अलग-अलग बखान करने वाले, उनके अन्तर तथा ऊँच-नीच बताने वाले भ्रान्ति के अखाड़ों के पहलवान शास्त्री हैं । वे स्वयं नहीं जानते हैं कि सत्य क्या है ? सम्भवतः जानना भी नहीं चाहते हैं । क्यों ? इसलिये कि जानने के बाद उस पर चलना भी पड़ेगा ।

मार्ग है संन्यास का ! सम्पूर्ण भौतिकता का क्रमबद्ध तीव्रता से त्याग करना पड़ेगा। भौतिकता के त्याग से उन्हें बुखार आता है। संन्यास के नाम से कपकंपी छूट जाती है। तब क्या करें ? जानकर भी अनजान बनो और भोली जनता को भी भ्रान्तियों के अखाड़ों में बहकाये रखो। केवल चर्चा करो ! मंच की वाह-वाह लूटो और संन्यास का पलायनवाद बताकर सत्य को झुठला दो और लिप्सा से प्रेरित कर्म को ही कर्म बताकर जनता को भटकाते रहो। परिवार के भ्रम को तोड़ो नहीं। सेवा के नाम पर समाज को नोचो और सत्य को पाखण्ड बता—पाखण्ड-खण्डन सभा बना, पाखण्डों की पुष्टि करो !

इसलिये हे सत्यनिष्ठ, तपनिष्ठ बुद्धि को धारण करनेवाले मित्र ! सांख्य और योग को समान जानता हुआ मार्ग का अनुसरण कर। जीवन के एक क्षण को भी नष्ट किये बिना प्रतिज्ञापूर्वक किसी एक में पूर्णरूपेण स्थित हो जा।

यदि तू ब्रह्मचारी है और संसार रूपी मिथ्या नाटक में उत्सुक नहीं है तो संन्यास में प्रवेश कर। यह मार्ग सांख्य मार्ग है।

यदि तू सांसारिक माया सागर में प्रवेश कर चुका है तो पूर्व के बताये मार्ग का अनुसरण करता हुआ सत्यरूप निष्काम कर्मयोगी बन और क्रमबद्ध तीव्रतापूर्वक बाह्य चिन्तन को त्यागता संन्यासी हो। इस प्रकार दोनों में से एक में ही यदि सत्यतापूर्वक स्थित हो गया तो उभय फल को प्राप्त होगा।

पहले मार्ग से दूसरा मार्ग दिखने में सुगम लगता है परन्तु सत्यरूप से देखा जाये तो अधिक कष्टकर है तथा पग-पग पर कड़ी परीक्षा देनी होती है। प्रथम मार्ग कष्टकर लगता हुआ भी सुगम है; परन्तु जो माया महासमर में प्रवेश पा चुके हैं अथवा प्रवेश पाने की लिप्सा रूप कामनायें जागृत कर चुके हैं उनके लिये दूसरा मार्ग ही श्रेष्ठ है। क्योंकि इच्छाओं के हठात दमन से उनका चिन्तन छूटना बहुत ही दुष्कर है। यदि चिन्तन छूटेगा नहीं तो श्रीहरि के चरणों में लगेगा नहीं। ऐसी स्थिति में भटके हुये चिन्तनवाला संन्यासी तो महापापी है। इसलिये दूसरा मार्ग उत्तम है जिसमें योगी अपने चिन्तन को निरन्तर श्रीहरि के चरणों में लगाये हुये सम्पूर्ण शुभ कर्मों मात्र को निष्काम भाव से करता हुआ पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हो जाता है और सन्यास धारण करता है।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

परन्तु हे अर्जुन ! योग के बिना संन्यास को प्राप्त होना कठिन है। योग युक्त मुनि ही शीघ्र आत्मा में स्थित होता है।

इसलिये हे सत्यधर्मा ! तू सम्पूर्ण कर्मों को आत्मा माधव में ही देख ! प्रतिक्षण उन्हीं में स्थित हुआ अकर्तापन की पवित्र भावनाओं से प्रेरित हो और बाह्य चिन्तन मात्र को यज्ञोपवीत रूपी गाण्डीव पर त्याग के धारदार पैने बाणों से छेदन करता; मन एवं इन्द्रियों को नथता, आत्मा से योग (मिलन) कर !

इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि ज्ञान युक्त-निष्काम कर्मयोगी ही वस्तुतः योगी है और उसकी प्रथम उपलब्धि संन्यास और उपरान्त उपलब्धि मोक्ष है। इसलिये अगले श्लोकों में कर्म अथवा ज्ञानयोगी का अर्थ ज्ञान युक्त-निष्काम कर्मयोगी ही लिया जावेगा। इसका सम्बोधन मात्र योगी है।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥

मन इन्द्रियों को जीत लिया ऐसा विशुद्ध अन्तःकरण वाला योगी सम्पूर्ण प्राणियों को आत्मा में तथा सम्पूर्ण आत्माओं को परमात्मा में एकीभाव से स्थित हुआ जानता हुआ कर्म करता हुआ भी लिपायमान नहीं होता।

इसलिये हे सखा ! सम्पूर्ण जगती में उस आत्मा माधव को समभाव से देख ! भगवान् श्रीकृष्ण महाराज को तत्व से जान ! भूमण्डलों, नक्षत्रों के पालक (गो=नक्षत्र। पाल=पालन करने वाले) हैं, परन्तु ग्वालों के सखा हैं। किसी को अपना-पराया करके अथवा नाता-रिश्ता करके मत जान ! सर्वत्र उस आत्मा माधव को ही देख ! एक ही रिश्ता मान ! आत्मा का रिश्ता। सर्वत्र सखावाद ! पापी मन और इन्द्रियों को नथ और इन सबके विषैले भ्रम से ऊपर उठ। फिर बाहर के सखावाद को ले चल भीतर। देख सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, भूमण्डल, नक्षत्र, सूर्यादिक तथा भूत, वर्तमान, भविष्य अनन्त—सब समाये हैं भीतर, तेरी ही आत्मा में ! सर्वत्र उसी सखा को देख, उसी को भज—फिर मत देख बाहर—चल भीतर ! चल भीतर !!

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

तत्व को जाननेवाला योगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता हुआ, मींचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थों में बर्त रही हैं; इस प्रकार समझता हुआ ऐसे माने कि कुछ भी नहीं करता हूँ।

इस प्रकार कर्तापन के भ्रमात्मक बोध से त्यक्त होना चाहिये तथा उस आत्मा माधव के सत्य का आचरण करना चाहिये; जिस आत्मा के निकलते ही यह शरीर रूपी 'मैं' ऐसा कुछ नहीं कर पाता है। मुर्दे की सांस चलती नहीं, पलक झपकती नहीं, हाथ पैर निश्चल हो जाते हैं—तब इस समय भी यह सब क्रियायें आत्मा ही के द्वारा तो हुई। इस सत्य को जानकर उसी सत्य में एकीभाव से स्थित होना चाहिये।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

जो पुरुष सब कर्मों को आत्मा में अर्पण करके, आसक्ति को त्यागकर कर्म करता है वह जल से कमल के पत्ते की सदृश पाप से लिप्त नहीं है।

इस प्रकार आत्मा को कर्त्ता कारण जानते हुए उन्हीं में सम्पूर्ण कर्मों को अर्पण करते हुये तथा आत्म-यज्ञार्थ ही निमित्त मात्र (यन्त्र मात्र) कर्म करते हुये वह व्यक्ति पाप अथवा पुण्य के फल से लिप्त नहीं होता है।

इसका अर्थ यह भी नहीं लगाना चाहिये कि श्रीहरि को अर्पण करके पाप कर्म को करने लग जावे। ऐसा अर्थ कदापि नहीं लगाना चाहिये। कर्म की व्याख्या इससे पूर्व कर चुके हैं, वही कर्म हैं। असत्य अथवा भ्रम के बीज से उत्पन्न कर्म को कर्म कहना मूर्खता है। जो मिथ्या जगत के माया रूपी लिप्साओ से उत्पन्न कर्म हैं उनकी मान्यता कर्म नहीं मात्र पाप रूपी भटकाव है। जिसका बीज ही अशुद्ध है उसका पेड़ अथवा फल सही होगा कैसे? मदार के बीज से लगा पेड़ आम कैसे उत्पन्न कर देगा? इसे स्पष्ट कर लेना चाहिये।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥

योगी केवल इन्द्रिय, मन, बुद्धि एवं शरीर द्वारा आसक्ति को त्यागकर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये (आत्म-यज्ञार्थ) कर्म करते हैं।

यही कर्म है जिसे कर्म शब्द से जानना चाहिये। सत्य रूप योगी वही है। आत्म-यज्ञार्थ निष्काम-कर्म निमित्त मात्र होकर करे। इसी को कर्म जानना चाहिये। चिन्तन यदि दूषित है तो सम्पूर्ण कर्म, कर्म न होकर पाप रूपी भटकाव कहलावेगा। पूजा, पाठ, कथा, कीर्तन ऐसे कर्म भी यदि चिन्तन की अशुद्धता से उत्पन्न हैं तो पाप को करने वाले हैं। इसलिये कर्म वही है जिसे करते हुए भी न करते हुए का भाव रखते हुये श्रीहरि के चरणों में ही अर्पण करे, न कि भौतिक उपलब्धि के लिये; यथा—सम्मान, ख्याति, सन्तान प्राप्ति, धन प्राप्ति अथवा रोगादिक की शान्ति। यह सब असत्याचरण है। कर्म नहीं है वरन् पाप के भटकाव हैं।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

योगी कर्म के फल को त्यागकर आत्म प्राप्ति रूप शान्ति को प्राप्त होता है। योग रहित पुरुष फल में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बँधता है।

इससे पूर्व के अध्यायों में कर्म फल को स्पष्ट कर चुके हैं। राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या, भय, आतंक, क्षोभ, मोह, अतिहर्ष, कामना, चाहना, दुःख आदि कर्म फल हैं। योगी तो 'सब कुछ आत्मा ही करता है मैं तो निमित्त मात्र हूँ। मैं तो अकर्ता हूँ, जो कुछ भी हो रहा है आत्मा द्वारा ही तथा आत्मा के निमित्त ही हो रहा है।' इस प्रकार आत्मा में ही नित्य स्थित हुआ; कर्म के फल का चिन्तन न करता हुआ, प्रतिक्षण आत्मा के आनन्द में ही झूमता है। मस्त, निश्चिन्त, उन्मुक्त, सम्पूर्ण जगत को खेल मात्र जानता, एक खिलाड़ी की भावना (Sportsman spirit) से तथा नित्य-आत्मा-स्थित अकर्तापन के भाव से पूर्ण हो आनन्द के सागर में प्रतिक्षण मस्त विचरण करता है। उस आत्म-सुखी के लिये इस भूमण्डल पर सर्वत्र सुख और आनन्द है। प्रतिक्षण स्वर्ग से भी परम—ऐसे सुख को भोगता है।

योगरहित अर्थात् सकामी जन के लिये यह संसार दुःख का सागर है। कर्म-फल चाहने वाला सकामी तो अति दीन, चिन्तातुर, शोकातुर, भयभीत है। उसे सुख कहाँ? सन्तान की चिन्ता, मकान की चिन्ता, पत्नी की नाना प्रकार की चिन्ता, भविष्य की चिन्ता आदि, आदि! वह तो व्यर्थ ही जीता है। मनुष्य के चोले में पशु से भी निम्न जीवन व्यतीत करता है।

इसलिये हे निर्णायक बुद्धि ! सत्य संकल्प को धारण कर, योगी हो और जीवन के स्वर्णमय क्षणों को अमृततुल्य आनन्दमय बनाता, अमर आत्मा से योग करता अमरत्व को धारण कर। नथ ले दस इन्द्रियों रूपी दस फनवाला नाग कालिया और अन्तर्मुखी हो मिल आत्मा-कन्हाई से।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

योगी पुरुष निस्सन्देह न करता हुआ, न करवाता हुआ, नवद्वारों वाले शरीर रूप घर में, सब कर्मों को मन से त्यागकर आनन्दपूर्वक जीता है।

वशी का अर्थ है स्वामी ! स्वामी का अर्थ है जिसने मन इन्द्रियों का स्वामित्व ले लिया है। इसी को दशरथ कहते हैं अर्थात् दसों इन्द्रियों को रथ ने (लगाम लगाने) वाले। जो स्वामी नहीं वह योगी कैसा ? जिसने इन्द्रियों का स्वामित्व नहीं लिया वह आत्मा से योग कैसे करेगा ? इन्द्रियों के दास तो दीन सकामी जन हैं। इसलिये वशी वही है, जो स्वामी है और स्वामी ही योगी है। योगी ही संन्यासी है तथा संन्यासी ही मोक्ष का अधिकारी है। क्योंकि जिसने इस चोले को आनन्दपूर्वक, निश्चिन्ततापूर्वक नहीं भोगा; जो नित्य लिप्साओं द्वारा अशान्त रहा, इन्द्रियों के द्वारा कर्म फल में ही भटकाया जाता रहा,—उसे मोक्ष कैसे मिलेगा ? (मोक्ष की चाहना नहीं होनी चाहिये परन्तु मोक्ष तो लक्ष्य है—लक्ष्यहीन योद्धा तो महापापी है।)

इस प्रकार का योगी ही धर्मपूर्वक जीता है। वही सत्यधर्मा है ! वह सच्चा कर्मयोगी है ! वह आत्मा में नित्य स्थित है तथा आत्मा के अमृतमय आनन्द को प्रतिक्षण भोगता है। वही मोक्ष अर्थात् अक्षय पद का अधिकारी है।

इसलिये हे सत्य को धारण करनेवाले ! तू नित्य-आत्म-योगी हो ! आत्म ज्ञान और निष्काम आत्म-यज्ञार्थ-कर्म से पूर्ण होकर संशय रहित हो; आत्मा में ही स्थित हो।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

आत्मा भूत प्राणियों के न कर्तापन को, न कर्मों को, न कर्मफल के संयोग को रचता है किन्तु प्रकृति बर्तती है।

प्रभु का अर्थ है जो प्रभुता सम्पन्न आत्मा है वह मनुष्यों के कर्तापन, कर्म, अथवा कर्मफल को नहीं रचता है वरन् सब मनुष्य स्वभाव से ही करते हैं। अर्थात् यह कहना कि सब कुछ आत्मा ही कर रहा है तो पाप पुण्य का भागी आत्मा ही है—सो असत्य है। मनुष्य मन एवं इन्द्रियों तथा बुद्धि द्वारा कर्म एवं कर्मफल लिप्तता अथवा त्याग को स्वतन्त्र है तथा स्वभाव से ही करता है। आत्मा तो बिजली है, उससे चाहें मन्दिर में बल्व जला लो अथवा मदिरालय में! बिजली न तो कर्म को देखती है, न कर्मफल को रचती है, न उनके पाप अथवा पुण्य को ही वहन करती है। यह सत्य है कि मदिरालय, वेश्यालय और मन्दिर तीनों स्थानों के बल्ब एक ही बिजली से जले! बिजली के बिना तीनों स्थानों पर अन्धेरा ही रहेगा। बिजली के बिना कोई काम नहीं हो सकेगा परन्तु काम के शुभत्व, अशुभत्व के लिये बिजली को पुण्य अथवा पाप का अधिकारी नहो बनाया जा सकता। यही स्थिति आत्मा की है। एक ही बिजली के द्वारा नाना यन्त्र अपने गुणों को गुणों में बर्तते हैं। पंखा घूमेगा, रेडियो बोलेगा, चक्की आटा पीसेगी और बल्ब जलेगा। इस प्रकार प्रत्येक यन्त्र स्वभाव से बर्तेगा। यही स्थिति आत्मा की है।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

आत्मा न किसी के पाप कर्म को और न शुभ कर्म को भी ग्रहण करता है। माया के द्वारा ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं।

चोर ने चोरी की; डाकू ने डाका डाला; हत्यारे ने हत्या कर दी; दानी ने दान किया; झूठे ने झूठ बोला; तपस्वी ने तप किया, पुजारी ने पूजा की—इन सबसे विरक्त हो आत्मा ने प्रत्येक के शरीर में भोजन को रक्त, माँस और शक्ति में बदला। आत्मा ने पाप और पुण्य का अन्तर नहीं किया। ठीक है कि यह सब कर्म आत्मा के रहते ही सम्भव हुआ क्योंकि आत्मा से रहित शरीर तो मृत है और मृतक किसी भी पुण्य अथवा पाप कर्म को कर सकने में समर्थ नहीं है; आत्मा की शक्ति के बिना कुछ भी हो सकना सम्भव नहीं है। फिर भी, सब कर्म हुए, परन्तु आत्मा उनके शुभत्व अथवा पापत्व से परे, निष्काम भाव से उन-उनके शरीरों में यज्ञों द्वारा भोजन को रक्त-मांस आदि में परिणित कर, निष्काम भाव से सांसों और धड़कनों को चलाता गया।

इस प्रकार धर्मात्मा वही है जो आत्मा के धर्म का आचरण करे अर्थात् निष्काम भाव से आत्मा की भांति कर्म करे; न कि माया के द्वारा भटक कर

शुभ और अशुभत्व को ग्रहण करता, मोहित चित्त हो कर्म करे और फल की कामनाओं से बन्धन को प्राप्त हो। कहने का तात्पर्य है कि किसी की सहायता अथवा किसी प्रकार कर्म-- उसके द्वारा किये गये आचरण के प्रत्युत्तर में करे। 'किसी ने मेरा अच्छा किया तो मैं अच्छा करूँ; बुरा किया तो बुरा करूँ।' यह तो पाप है। मनुष्य को चाहिए कि समभाव से आत्म-यज्ञार्थ कर्म करे। कर्मफल की भावना से प्रेरित होकर कर्म न करे। आत्मा की भांति स्वधर्म का पालन करता हुआ; सम्पूर्ण जगती में आत्मा माधव को ही देखता हुआ, आत्म-यज्ञार्थ, आत्मा ही की भाँति कर्म करे। ऐसा मुनि ही धर्मात्मा हैं। अन्य को माया के द्वारा मोहित हुए अज्ञानी जानो! वे निश्चय ही पापी हैं।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

परन्तु जिनका वह अन्तःकरण का अज्ञान, आत्मज्ञान द्वारा नाश हो गया है, उनका ज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान परम सत्य को प्रकाशता है।

प्रश्न उठा है कि जब आत्मा सर्वत्र समान है, सर्वत्र निष्काम एवं निर्लिप्त है, तब वह सर्वत्र भिन्न-भिन्न क्यों प्रतीत होता है? किसी का चेहरा निस्तेज है, तो कोई परम तेजस्वी प्रतीत होता है। किसी की देह सशक्त है, तो कोई दुर्बल रोगी प्रतीत होता है। कहीं मदार, तो कहीं आम; कहीं गोभी तो कहीं बैंगन—एक ही प्रकार की आत्मा एक ही भस्मी से, सब कैसे करती है!

उत्तर देते हैं कि एक ही बिजली है; किसी ने चालीस पावर का बल्ब लगाया तो किसी ने सौ पावर का बल्ब लगाया और कोई फ्यूज बल्ब लगा बैठा—यही घट-घट में तेज का अन्तर है; बिजली तो सर्वत्र समान ही है। पुनः एक ही बिजली से किसी ने रेडियो चलाया; किसी ने पंखा चलाया, किसी ने मशीन लगाकर खिलौने बनाये, किसी ने चक्की लगाकर आटा पीसा, किसी ने मशीन लगा कर जल निकाला; इस प्रकार प्रत्येक यन्त्र ने अपनी-अपनी प्रकृति के वश में होकर, एक ही बिजली से नाना प्रकार के कार्य तथा नाना प्रकार का प्रकाश दिखलाया। बिजली सर्वत्र समान रही।

पुनः सौ पावर का बल्ब जल रहा है। उस पर बहुत धूल पड़ जाने से उसका प्रकाश अति धीमा प्रतीत हो रहा है। रंग पड़ जाने से तथा वस्त्र से ढक जाने से, प्रकाश बहुत ही सूक्ष्म हो गया है। इससे यह तो नहीं सिद्ध होता कि बिजली क्षीण हो गयी। यदि माया रूपी धूल, रंग और वस्त्र को हटा दें

तो पुनः प्रकाश बहुत बढ़ जायेगा। इससे यह तो नहीं कहा जायगा कि बिजली की मात्रा बढ़ गई। ठीक इसी प्रकार आत्मा सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान है परन्तु माया रूपी धूल और गन्दगी के कारण उसका प्रकाश प्रतीत नहीं होता है।

जिस भक्त ने अतःकरण रूपी बल्व पर से अज्ञान रूपी माया के मैल को साफ कर दिया उसे ही आत्मज्ञान रूपी बिजली से पूर्ण प्रकाश मिला और वह सूर्य की भांति जगमग हुआ। इसलिए हे मित्र ! अन्तःकरण रूपी बल्ब से अज्ञान रूपी मैल हटा, फिर देख, सहस्त्रों सूर्यों से भी अधिक प्रकाशवान आत्मा को।

तपस्वी वही है जिसकी आत्मा का प्रकाश उसके मुखमण्डल पर जगमगाये। आत्म तेज से रहित ज्ञान तो मात्र भटकाव है। कोरी विद्वता दशाननवाद है।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

आत्मा में लय हो गई बुद्धि तथा मन जिनका, आत्मा में ही एकीभाव से स्थिति जिनकी, ऐसे आत्म परायण, आत्म ज्ञान द्वारा पाप रहित, योगी मोक्ष को धारण करते हैं।

अपुनरावृत्ति का अर्थ है जन्म और मरण के चक्कर से छूटकर मोक्ष अर्थात् अक्षय पद को प्राप्त होना। इस प्रकार के पद को कौन प्राप्त होते हैं ? वे, आत्म-ज्ञान एवं निष्काम आत्म-यज्ञार्थ कर्म से युक्त योगी जो प्रतिक्षण आत्मा में ही स्थित; आत्मा सूर्य के प्रकाश में सदैव स्थापित रहते हैं। जिनका अन्तः-करण का बल्ब अज्ञान रूपी मैल से रहित हो, आत्मा बिजली द्वारा पूर्ण प्रका-शित हो गया है। जो मरणशील बुद्धि को अमर आत्मा में लय कर दिये हैं तथा आत्मा में ही स्थापित हो गये हैं। जिन्होंने दस इन्द्रियों रूपी दस फनवाला कालिया नाग सदा-सदा के लिये नथ लिया है; जिन्होंने मन को नियन्त्रित कर, दशानन से दशरथ बना लिया है तथा बुद्धि, मन, इन्द्रियों सहित, मनसा-वाचा कर्मणा आत्मा में ही स्थित हो गये हैं। ऐसे ही योगी शरीर सामिग्री को आत्मा-हवन-कुण्ड में यज्ञ कर, आत्मा से अद्वैत होकर ब्रह्म कपाल से प्रकट होकर; यज्ञोपवीत की द्विजाग्र प्रतिज्ञा को पूर्ण करते, इसी शरीर रूपी गर्भ में पुनः उत्पन्न हो, ब्रह्मकपाल से प्रकट हो; अक्षय पद को प्राप्त करते हैं। वे ही

सत्य रूप द्विज हैं, वे ही गुरु कहलाने के अधिकारी हैं; वे ही सत्य रूप योगी हैं—शेष को तू माया रूपी सागर में डूबता, उतराता, गोते खाता-जान !

> विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

ज्ञानी जन विद्या और विनय युक्त ब्राह्मण में तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समभाव से देखने वाले हैं।

सत्य रूप ज्ञानी कौन है ? जो ब्राह्माण में, गौ में, हाथी, कुत्ते अथवा चाण्डाल में अन्तर नहीं जानता है वरन् सर्वत्र उस आत्मा माधव को समान भाव से देखता हुआ—माधव को ही देखता है, वही ज्ञानी है।

आत्मज्ञानी जानता है कि सम्पूर्ण दृश्य मात्र माया रूपी अज्ञान से आच्छादित होने के कारण, भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है अन्यथा प्रत्येक जीवधारी आत्मा रूप में पुरुष है तथा प्रकृति (शरीर) रूप में स्त्री है। इस प्रकार आत्मज्ञानी तो स्त्री पुरुष का भी भेद नहीं करता वरन् दोनों को ही आत्मा रूप में पुरुष तथा शरीर रूप में स्त्री जानता है। जो स्त्री और पुरुष को भेद से नहीं जानता, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र में भी भेद कैसे करेगा ? वर्णों के भेद को करने वाला तो माया के अज्ञान में भटका हुआ है, चाहे वह ब्रह्माण्ड गुरु भी क्यों न कहलावे। ऐसा अज्ञानी स्वयं तो माया में भटक ही रहा है, अपने साथ समाज के विशाल जनसमुदाय को भटकानेवाला महापातकी भी है। जैसा कि उपरोक्त श्लोक से सिद्ध है।

सत्य रूप ज्ञानी तो वही है जो वृक्ष में, पशु में, पक्षी में और मनुष्य में भी अन्तर न देखता हुआ, केवल प्रकृति और पुरुष की सत्य लीला को सत्य रूप में जाने। ज्ञानी सम्पूर्ण को अपने आत्मा में ही देखता है तथा बाह्य जगत से विरक्त रहता है। वह जानता है भीतर पाण्डव ! बाहर कौरव ! सर्वत्र !! सर्वत्र !!

> इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
> निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

जिनका मन समत्वभाव में स्थित है उनके द्वारा इस जीवित अवस्था में ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है क्योंकि आत्मा सदा निर्दोष, सम है। इससे वे आत्मा में ही स्थित हैं।

जिनका मन अर्थात् चिन्तन समत्वभाव में ही स्थित हो गया है ऐसे योगी ही आत्म स्थित हैं। क्यों ? इसलिये कि आत्मा सदा निर्दोष तथा किसी के दोष न देखते हुए समभाव से प्रत्येक शरीर में यज्ञ करने वाला है। इसलिये सत्य रूप ज्ञानी वे ही भाग्यवान हैं जो सर्वत्र समभाव रखते हैं तथा दोष रहित बुद्धि से आचरण करते हैं। सदा समभाव से आत्मा को ही देखते हैं। वे किसी का गुण कर्म अथवा अच्छा, बुरा, जानकर व्यवहार नहीं करते वरन् सदा निर्दोष और समभाव वाले अमर आत्मा माधव को ही देखते हैं। ऐसे महात्मा ही सत्य रूप में ब्राह्मण कहलाते हैं क्योंकि वे ही ब्रह्म स्थित हैं। जो ब्रह्म स्थित नहीं सो ब्राह्मण कैसा ?

इसलिये हे मित्र ! सत्यरूप में ब्रह्म मार्गी हो। यज्ञोपवीत का गाण्डीव उठा और मार दे सम्पूर्ण भौतिकता के 'द्वैत' रूपी 'दैत्यवाद' को—नथ के दस इन्द्रियों वाला नाग—होकर आत्म स्थित—प्रकट हो ब्रह्मकपाल से—जीता जाये माया महासमर का महाभारत—स्वर्गारोहण हो ब्रह्म मार्ग से !

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मवित् ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त हो उद्विग्न न हो, ऐसा स्थिर बुद्धि, संशय रहित ही आत्म स्थित है।

प्रिय को प्राप्त होकर कौन हर्षित नहीं होता ? जिसे प्रिय की प्राप्ति की सुधि ही न हो। किसे प्रिय की प्राप्ति की सुधि नहीं ? जिसका ध्यान आत्म स्थित हो गया है उसे वाह्य संसार की प्रिय अथवा अप्रिय वस्तु का ध्यान ही नहीं है तो हर्षित अथवा दुःखी कैसे होगा ? जिसका चिन्तन एक आत्मा में स्थित हो गया है बाह्य जगत का चिन्तन ही नहीं है उसे हर्ष अथवा शोक होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। स्थिर बुद्धि कौन है ? जिसकी बुद्धि एक ही भाव में स्थित हो गई है। वाह्य जगत तो अस्थिर है इसलिये उसके किसी भी भाव में स्थिर हो गई बुद्धि सदा अस्थिर भाव में स्थित होने से अस्थिर ही रहेगी। जो स्थिर सत्य है सो आत्मा है इसलिये आत्मा में स्थित बुद्धि ही स्थिर बुद्धि है।

संशय रहित कौन है ? वेद का वाक्य है, "मन संशय रहित हुआ किसका ? आत्मा को संशय हुआ कब ? बुद्धि के संशयों का निवारण चाहनेवाले—इसे

मन के संग से हटाकर आत्म संगी बना ले।" अमर, नित्य, परम सत्य, संशय-रहित आत्मा का संग करके यह बुद्धि पवित्र हो संशय रहित हो जावेगी।

इसलिये जिसकी बुद्धि स्थिर, संशय रहित एवं हर्ष-शोक से रहित है उसे तुम आत्म-स्थित जानो। वही योगी है। वही ब्रह्म स्थित है। सो ही ब्राह्मण है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

बाह्य जगत के विषयों से अनासक्त आत्मा के सुख को ही प्राप्त होने वाला पुरुष, आत्मा के योग से ही युक्त हुआ, अक्षय सुख को भोगता है।

कौन अक्षय अर्थात् अमर सुख को भोगता है ? जो बाह्य जगत से अबोध अर्थात बोध रहित है तथा पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हो आत्मा में ही स्थित हो गया है। आत्मा में स्थित पुरुष ही क्यों अक्षय आनन्द को भोगता है ? इसलिये कि सम्पूर्ण जगत के भौतिक पदार्थ मरणशील, परिवर्तनशील होने से उनके सुख भी अस्थिर अर्थात् क्षय अर्थात् नष्ट होनेवाले हैं। आत्मा अमर है इसलिये आत्मा का सुख मात्र ही अमर हो सकता है।

इसलिये जिसने सम्पूर्ण जगत से संन्यास लिया और मनसा-वाचा-कर्मणा अन्तर्मुखी हो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों, लोक-लोकान्तरों, अतीत-वर्तमान-भविष्य को एक आत्मा में ही देखने लगा तथा जिसके सारे स्वजन मात्र उसकी एक आत्मा ही हो गई, जिसके सम्पूर्ण कर्म, चिन्तन, भोग, सुख, जप, तप का लक्ष्य, मात्र आत्मा ही हो गया, वही अक्षय आत्मानन्द को प्राप्त हुआ।

इससे सिद्ध हुआ कि जिसने सम्पूर्ण बाह्य जगत से मनसा-वाचा-कर्मणा संन्यास लिया, वही सत्य रूप में आत्म योगी है। वही मोक्ष का अधिकारी है, सो ही ब्रह्म के मार्ग का आचरण करनेवाला ब्राह्मण है, अन्यथा को माया का छल जानो।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

जो इन्द्रिय तथा विषयों के संयोग से उत्पन्न होनेवाले भोग हैं, वे निश्चय ही दुःख के हेतु तथा अनित्य हैं। हे अर्जुन ! ज्ञानी उनमें नहीं रमता है।

भौतिकता में सुख कहाँ ? इन्द्रियों और इन्द्र (मन) के जाल में भ्रमित मनुष्य को शान्ति कहाँ ! विषयों के संयोग से प्रेरित कर्म करनेवाली बुद्धि को सत्य कहाँ ? उनको तो अति दयनीय, दुर्लभ मनुष्य जन्म को नष्ट कर अन्ध योनियों में भटकने के आतुर जानो ? अहो ! उनका जीना कैसा और मरना कैसा ! वे तो जीवन भर पशु से भी दीन होकर दुख और पाप को कमाते हैं और मरकर निश्चय ही पाप को प्राप्त होते हैं।

शत-शत धार्तराष्ट्र (हंस से सुन्दर पक्षी जिनके चोंच और पंजे काले हैं और जो जीवधारियों को जीवित नोच-नोच कर खाते हैं लिप्सायें अथवा कौरव…देखें पहला अध्याय) नोचते हैं क्षण-क्षण उनको और द्रोण (मुरदाखोर पहाड़ी कौवे) खाते हैं उन मुर्दा शरीरों को। लिप्साओं ने चूसकर मार दिया तो मुरदाखोर कौवों ने नोचे शव उनके। लुट गया दुर्लभ मनुष्य जन्म ? सत्य से हटकर जिन स्वांगी सत्याचारियों का संग किया वे ही जीवित मारनेवाले और लाश को नोचनेवाले मित्र, रिश्तेदार और गुरु बने !

जाग रे भक्त ! मत कर देरी ! भाग भीतर अपने ! भज एक ही गुरु आत्मा कृष्ण को ! जाग ! जाग रे माया भ्रम में भटकते प्राणी !!

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

जो मनुष्य शरीर के त्याग से पहिले ही काम और क्रोध से उत्पन्न हुये वेग सहन करने में समर्थ है, वह मनुष्य इस शरीर में योगी है और वही सुखी है।

कौन योगी है ? जिसने इस शरीर में काम और क्रोध दोनों को जीत लिया है। किसने इस दुर्जय अर्थात् न जीते जानेवाले, पापी काम को जीत लिया ? जिसने मन एवं इन्द्रियों का नियन्त्रण लेकर बुद्धि को अमर आत्मा से मिला दिया—वही इस दुर्जय पापी काम और क्रोध के वेग को सहन कर सका। बुद्धि का आत्मा में योग (मिलन) होने से ही इस पापी काम का निरोध सम्भव हुआ। इस प्रकार मरणशील बुद्धि को अमर आत्मा में लय करनेवाला ही योगी है। सम्पूर्ण बाह्य जगत के मिथ्या रिश्तों को छोड़कर चल दिया जो भीतर वही योगी है। जो बाह्य जगत की मिथ्या भौतिकता में लिप्त है; जो बहिर्मुखी हो पत्नी, दुकान, मकान से योग कर रहा है उस स्वांगी को योगी नहीं कहना चाहिये। वह तो साधारण जन से भी निकृष्ट अधम पापी है। इसलिये रे मन ! चल भीतर ! भीतर है सज्ञा रूप पत्नी द्रोपदी; पांच तत्व रूप पाण्डु;

पांच बुद्धियों रूप पांच पाण्डव, शरीर सामिग्री को अग्नि में प्रवेश कराने रूप पुत्र अभिमन्यु और आत्मा रूप अमर सारथि कृष्ण ! उठा यज्ञोपवीत का गाण्डीव और छलनी कर दे बहिर्मुखी खिचाव रूपी कौरवों को—नथ ले नाग काला, दस इन्द्रियोंवाला—हो जा योगी ।

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥

जो अन्तर सुखी (आत्म सुखी) अन्तर आराम वाला (आत्मा में आराम वाला) तथा जो अन्तर ज्योति (आत्म ज्योति) वाला है वह ही ब्रह्म निर्वाण (अनन्त आत्म-शान्ति अर्थात् मोक्ष) को धारण करनेवाला ब्रह्मभूतः अर्थात् आत्मा से युक्त होकर आत्म-मार्ग अर्थात् ब्रह्ममार्ग (ब्रह्म कपाल) से गमन करता है ।

महाविष्णु सत्य को साकार कर रहे हैं ! सत्यधर्मा को सत्य ज्योति का ज्ञान करवा रहे हैं । अन्तर ज्योति अर्थात् अन्तर की सत्यरूपी आंख को स्पष्ट कर रहे हैं । सतर्क हो रहे मन ! ब्रह्म और ब्रह्म के मार्ग, ज्योति, आनन्द और मोक्ष के परम रहस्य श्रीहरि के कोमल रक्ताभ होठों से छलक गये हैं । माधव अति गोपनीय परम् रहस्य को सहज ही स्पष्ट कर रहे हैं । ऐसा गोपनीय रहस्य जिसे बहुत काल तक ऋषि, मुनि, तपस्वी और ज्ञानी स्पष्ट नहीं कर सके––आज सहज ही खुल गया । सत्यनिष्ठ अर्जुन के लिये मोक्ष का द्वार अनायास खुल गया है ।

अन्तर सुखी है जो, अन्तर आराम वाला है जो सो ही योगी है ! वही संन्यासी है । वही ब्रह्मभूतः ब्रह्म निर्वाण को धारण करता ब्रह्ममार्ग से गमन करता है ।

चिन्तन से उड़ा दिये भौतिक जगत के सुख-दुख जिसने, बाह्य जगत के आराम की पीड़ाओं को चिन्तन से झाड़ दिया जिसने; दस इन्द्रियों रूपी दस फनवाले कालिया नाग को नथकर चल दिया भीतर, और खोल दी अन्तर्ज्योति अर्थात् भीतर की आंख जिसने—उसी ने जीता मृत्यु को और धूम्रमार्ग पितृयान (चिता मार्ग) का परित्याग कर बुद्धि को आत्मा ब्रह्म से युक्त करता आत्मा सदृश्य अनन्त शान्ति और अनन्त आनंद को प्राप्त होता देवयान (आत्मयान) शुक्ल मार्ग (शरीर सामिग्री को आत्मा हवन कुण्ड में यज्ञ कर ब्रह्माण्ड से ब्रह्म स्वरूप प्रकट होना—देखें सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि, अश्वत्थ मित्र, अधियज्ञ मित्र

एवं दिव्य दर्शन का पहला अध्याय) से गमन कर ब्रह्मर्षि के महान पद को प्राप्त हो गया। खिलौने से खिलाड़ी हो गया। उपासक से उपास्य हो गया।

जानो रे मित्रो! सत्य और ऋत में अन्तर है। यही अन्तर है। नाट्य-धर्म का और सत्य धर्म का। सम्पूर्ण बाह्य जगत एक नाट्यशाला ही तो है। वहाँ एक अच्छे कलाकार की भाँति नाट्यधर्म के सत्य को निभाओ परन्तु साथ ही रे नाट्यशाला के पात्रो! अपनी वास्तविकता को न भूलो। अन्तर के सत्य को न ठुकराओ जो ऋत है।

देखो रामलीला हो रही है। दो लड़के हैं। एक कौशल्या माता का रूप भरे है दूसरा दशरथजी बना हुआ है। सुन्दर वस्त्र और मुकुट धारण किये हैं। नाटक आगे बढ़ता है। परदा गिरता है और उठता है। अब बालकों के समूह गाते चले आ रहे हैं 'भये प्रकट कृपाला दीनदयाला · · · नाटक में भगवान राम का जन्म हो गया है। परन्तु विचारो कि तुम जो दर्शक बने बैठे हो क्या उसे मानते हो। कदापि नहीं! सत्य क्या है कि दोनों लड़के हैं और उनके लड़का पैदा हो ही नहीं सकता। वे तो मात्र नाटक कर रहे हैं।

ठीक इसी प्रकार जरा मूंद के आँख अपने भीतर झांको और स्वयं से प्रश्न करो—क्या तुम सारा ज्ञान और डिग्रियां बटोर कर थाली भर भोजन से एक बून्द रक्त की बना सके? तब तुमने लड़का कब बनाया? क्या पिता बनने का नाटक नहीं कर रहे हो? क्या थाली भर भोजन से अपनी भौंह का एक रोम बना सके? स्वयं से अनभिज्ञ क्या तुम विद्वान बनने का नाटक नहीं कर रहे हो? बोरी भर सड़ी हुई मिट्टी, राख और पानी से क्या तुम एक दाना गेहूँ बना सके? तब क्या तुम व्यापार और नौकरी द्वारा परिवार के भरण-पोषण का मात्र नाटक नहीं कर रहे हो?

वाह्य जगत में की गई सम्पूर्ण चेष्टायें, क्रियायें, ज्ञान, पूजा, रिश्तेदार, मित्र, शत्रु—मात्र नाट्यशाला का रूपहला नाटक नहीं है तो और क्या है? जब सम्पूर्ण रूप से नाटक मात्र है तो वाह्य जगत का धर्म नाट्धर्न ही तो हुआ! वाह्य जगत के मानव निर्मित सत्य को नाट्य सत्य ही तो कहेंगे।

वह मेरा बेटा है! मैंने इसे उत्पन्न किया है। यह सत्य है। परन्तु यदि हम विचार करें तो पुनः लगेगा कि यह तो नाटक मात्र है। यह मेरी विवाहिता धर्मपत्नी है, मैंने इसे अग्नि के सम्मुख प्रतिज्ञापूर्वक ग्रहण किया है। यह भी सत्य है। सभी इसे सत्य ही कहेंगे। परन्तु यह असत्य भी तो है।

दोनों ही शरीर रूप प्रकृति हैं । प्रकृति ही स्त्री है । दोनों ही आत्मा रूप पुरुष हैं । यह तो ठीक उसी प्रकार हुआ जैसे दो दोस्त हैं और नाटक में एक ने कोशल्या का रूप भरा है और दूसरे ने दशरथ का । तब तो उपरोक्त सत्य मात्र नाट्य सत्य हुआ ।

यही अन्तर है ऋत और सत्य का । प्रत्येक व्यक्त चाहे वह स्त्री है, पुरुष है, पशु है अथवा पेड़ है—शरीर रूप प्रकृति स्त्री है और आत्मा रूप पुरुष है; यह ऋत है ।

इस प्रकार जो प्राकृत आत्मज्ञान है सो ऋत है । ऋत अमर है, अटल है, जिसे कभी नहीं बदला जा सकता है । सत्य जिसे कहा है सो नाट्यशाला के धर्म से उत्पन्न है जो सन्देह से परे नहीं है तथा परिवर्तनीय है ।

मन्दिर में जूते पहनकर जाना पाप है । यह सत्य है और मान्य है । परन्तु गिरजाघर में जो मन्दिर के समान है जूते पहनकर जाया जा सकता है । यहाँ यही सत्य अमान्य हो गया ।

सनातन-धर्म ही वस्तुतः एक ऐसा धर्म है जो 'सत्य' और 'ऋत' दोनों कसौटियों पर खरा उतरता है । यही विशुद्ध रूप से प्रकृति और आत्मा के स्वरूप को सर्वांग ग्रहण करता है ।

सनातनधर्म की प्रत्येक पुस्तक में बाह्य रूप से नाट्य धर्म को स्पष्ट किया गया है तथा गहन रूप से ऋत समाया हुआ है । आप स्वयं श्रीमद्‌भगवद्‌गीता और महाभारत में इसे स्पष्ट करते चल रहे हैं । यही स्थिति रामायण में है। जहाँ बाह्य रूप से लीला द्वारा हम नाट्यधर्म के सत्य को जानते हैं यथा—पिता का पुत्र के प्रति, माता का पुत्र के प्रति, सास का बहू के प्रति, बहू का सास के प्रति, पुत्र का माता-पिता के प्रति, भाई का भाई के प्रति, राजा का प्रजा के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति तथा सम्पूर्ण समाज का, सम्पूर्ण नाट्यशाला का धर्म हम बाह्य रूप में पाते हैं—जो सत्य है । वहीं पर हम प्रत्येक व्यक्ति में समाये दशरथ और दशानन (मन) बुद्धि और शरीर (प्रकृति स्त्री-सीता) आत्मा राम जो घट-घट वासी हैं उनकी घट-घटवासी ऋतलीला का रहस्य तथा सृष्टियज्ञ के रहस्यों का स्पष्टीकरण करते हैं—यह ऋत है ।

इस स्पष्टीकरण से श्रोता समुदाय को स्पष्ट हो गया होगा कि हम इन महान कृतियों के माध्यम से अब सत्य से ऋत में प्रवेश पा गये हैं और

आपका चरणरज, यह संन्यासी, आपको ऋत, जो सनातन है उसी मार्ग पर लिये चल रहा है ।

हम किसी व्यक्ति की मानसिक कल्पनाओं के पोषक नहीं हैं । हम सत्य से भी परम ऋत धर्म (सनातन-धर्म) के उपासक हैं । हममें भ्रान्तियां और पाखण्ड ढूंढ़नेवाले समाज एवं समुदाय सहानुभूति के पात्र हैं जो एक गुरु की रूढ़ि में फँस बैठे हैं जो कि उनका अपने प्रति ही किया गया घिनौना षडयन्त्र है । क्योंकि उनके गुरुजी ने महाभारत और रामायण को अमान्य ग्रंथ घोषित कर दिया है इसलिये वे इसे सुनना और छूना भी महापाप कहते हैं । यह आर्य धर्म नहीं हो सकता है । सनातन आशावान है । उसकी समन्वय में पूर्ण आस्था है । भविष्य उज्ज्वल है । हमारे मित्र पुनः सत्य और ऋत के इस परम रहस्य को जानकर लौटेंगे एक सुहानी सुबह ! उनकी छिद्रान्वेशी खण्डनात्मक विचार-धारा सत्य और ऋत के अमृत का पान कर मण्डनात्मक और आस्थावान होगी ! हम अपने मित्रों का कदापि-कदापि तिरस्कार न करें ! ऐसा करना हमारे लिये अधर्म होगा ।

इस प्रकार हे अनन्य सखाओ ! उपरोक्त श्लोक के रहस्य को जानो और महाविष्णु के बताये मार्ग पर बाह्य सत्य के नाटक से विरक्त, अनासक्त एवं मुक्त होते हुए आत्मस्थ हो जाओ । आत्मा में ही आनन्द की अनुभूति हो तथा आत्मा की भांति ही अब आनन्द अनन्त हो जावे । आत्मा में ही तथा आत्मवत् ही नित्य आराम को धारण करो ।

हे आत्मा और प्रकृति के नित्य सत्य को धारण करनेवाले ! अन्तर के नेत्रों की ज्योति को प्रकट कर ! क्यों ?

इसलिये कि आत्मा बैठा है भीतर और सम्पूर्ण इन्द्रियां गतिशील हैं बाहर ! आंख सदा बाहर भागती हैं । आतमा के विपरीत तुझे आत्मा से दूर ही दूर भगाती हैं । तब इन आत्मद्रोही इन्द्रियों से कैसे आत्मस्थ हो सकेगा । इसलिये दश इन्द्रियों को 'रथ' (लगाम लगाना) और दशरथ होकर मिल आत्मा राम से । जला भीतर की अमर ज्योति । ब्रह्मभूतः अर्थात् आत्मा के संग अद्वैत करता ब्रह्ममार्ग अर्थात् ब्रह्मकपाल से प्रकट हो—इस शरीर रूपी गर्भ में दूसरा जन्म धारण करना ।

धारणा का सांचा बना, ध्यान की ज्योति जला; एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति की समाधि सजा, फिर शरीर रूपी सामिग्री को, शरीर गर्भ में, आत्मा हवन

कुण्ड में यज्ञ करता—यज्ञ सामिग्री को वासुदेव रूपी सांचे में पिघल कर ढलने दे। ढल के सांचे में उनके, उन्हीं में समाता—वही हो जा।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

नाश हो गये हैं सब पाप जिनके, निवृत हो गया है संशय जिनका, सम्पूर्ण भूत प्राणियों के हित में रति जिनकी, आत्मा में एकीभाव से स्थित हो गया है जो—ऐसे साधक (ब्रह्मवेत्ता) ब्रह्मत्व को प्राप्त होते हैं।

नाश हो गये हैं सब पाप जिनके और निवृत हो गया है संशय जिनका ? कौन है ऐसा भाग्यवान ?

वेद कहते हैं—"मन संशय रहित हुआ किसका ? आत्मा को संशय हुआ कब ? बुद्धि के संशयों का निवारण चाहने वाले; इसे मन के संग से हटा और आत्म-संगी बना ले। संशय रहेगा न बाकी !

बुद्धि जब मन का संग करती है तो संशयों की भरमार क्यों हो जाती है ?

मन का प्रतीक है मनु ! मनु की पत्नी का क्या नाम है ? शतरूपा ! शत माने सौ—तथा रूपा माने रूप !

सोचो जिसके दो रूप हों उसे हम बहुरूपिया, ढोंगी और पाखण्डी कहते हैं। जिसके सौ रूप हों उसे क्या कहेंगे ?...

इसलिये हे मनुज ! हे काल के पुत्र ! हे मन के बन्धक ! हो जा आत्मज ! आत्मा का पुत्र ! नथ के दस इन्द्रियोंवाला नाग कालिया हो अन्त-र्मुखी और मिल आत्मा कन्हाई से ! संशय रहेगा न बाकी।

अरे मंजिल की कथा करें क्यों ? मन्जिल के ख्वाब सँजोये क्यों ?

आओ चलें मंजिल की ओर ! चल दें ! अब रूकें नहीं !

बाहर चाह है ! भीतर राह है। बाहर की चाहना तुझे मन का बन्धक बना देती है। एक ही बात के सौ अर्थ बना देती है— शतरूपा ! इसी में भटक कर तू आत्मा से रहित होता काल का बन्धक—राख का अम्बार हो जाता है ! पहेलियां और कथायें छोड़ ! फेंक दे सपनों की रुपहली दुनियां ! सत्संग कर ! सत्य का संग कर अर्थात् अपनी हकीकत से वाकिफ हो। स्वयं को पहचान रे बन्दे !

अहो ! हो गया जो आत्मज ! सर्वत्र ब्रह्म को ही जानता है । हर ओर कृष्ण ही दिखता है जिसे । प्रकृति आर पुरुष की स्वच्छन्द लीला के रहस्य को पा लिया है जिसने । तोड़ दिये माया के बन्धन ! जला दीं चितायें 'मेरे पन' की और जल गया जो स्वयं चिता में ! पहन कर ज्वाला जो सर्वत्र आत्म-हवन-कुण्ड की पवित्र ज्वालाओं का सर्वत्र दर्शन पाता है । मेरा कोई नहीं और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा परिवार है । मैं किसी का नहीं—और प्रत्येक शरीर रूपी मन्दिर की चरणरज में स्थान मेरा है ! ऐसा आत्मज्ञानी ही ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् आत्मा में लय हो नित्य स्वरूप आत्मा ही हो जाता है । मनुज अर्थात् काल के चक्र (जन्म-मरण रूपी) से सदा के लिये मुक्त हो—आत्मज अर्थात् अमर आत्मा में एकीभाव से स्थित होता है ।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।२६।।

काम-क्रोध से रहित जीते हुये चित्तवाले, आत्मा से साक्षात्कार किये हुये ज्ञानी पुरुष के लिये सब ओर से ब्रह्म ही प्राप्त हैं ।

कौन ज्ञानी है ? किसने तत्व को पाया ? कौन अमर आत्मा ब्रह्म से अद्वैत कर परं ब्रह्म हो गया ।

वही जिसने काम और क्रोध को जीत लिया । काम और क्रोध को किसने जीता ? अहो ! जिसने मन पर नियन्त्रण पाया । तभी तो वह मनु—शत-रूपा की लीला रहस्य का अनावरण कर सका । दस इन्द्रियों को 'रथ' कर 'दशरथ बन सका और आत्मा राम के संग अद्वैत कर आत्मस्थ हो सका ।

काम कभी मरता नहीं है यह तो 'जयद्रथ' है । इसे जीता नहीं जा सकता । इससे तो विरक्त हुआ जा सकता है । इससे विरक्त कौन हो सकता है ? जिसने चित्त को जीता और उसे मोड़कर आत्मा में एकीभाव से स्थित हो गया । इस तत्व को चौथे अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं ।

इसलिये आओ रे मित्रो ! चित्त को जीतें । यह चित्त रूपी दस अश्वों (इन्द्रियों) वाला रथ हमें माया रूपी झाड़-झंखाड़ों में न रौंदता फिरे वरन् इसकी लगामों को कसकर देवत्व रूपी राजपथ पर ले आवें और अपनी मन्जिल की ओर इन्हें तीव्रतम गति से दौड़ावें । यह मन और इन्द्रियां हमें काम क्रोध रूपी गड्ढों में घसीटें नहीं । चलो इन्हें कसकर आत्मा की राह चलें ।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तर चारिणौ ॥२७॥

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

बाहर के विषय-भोगों को बाहर ही त्याग कर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच में स्थित करके, नासिका के बीच में विचरनेवाले प्राण और अपान वायु को सम करके; जीती हुई मन बुद्धि और इन्द्रियोंवाला जो मोक्ष परायण मुनि, इच्छा, भय और क्रोध से रहित है—वह सदा ही मुक्त है ।

जिसने बाहर की चाह छोड़ी उसी ने भीतर की राह ली । दो रास्ते हैं—एक भीतर जाने का है सनातन आत्मा के संग का है और दूसरा मिथ्या जगत के नाटकीय सत्यरूपी भटकाव का है ।

आप लोग लखनऊ में बैठे हुये हैं । क्या आप एक साथ अर्थात् एक ही समय में लखनऊ से कलकत्ता और दिल्ली पहुँच सकते हैं ? नहीं ! दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं । एक ही समय में आप लखनऊ से दिल्ली पहुँच सकते हैं अथवा कलकत्ता पहुँच सकते हैं । दो विपरीत दिशाओं में जानेवाली गाड़ियों पर एक ही व्यक्ति एक ही समय में कैसे सवार हो सकता है ।

ठीक ! इसी प्रकार आप चाहें तो बाहर के विषय-भोगों में भटकते रहें । जीवन के स्वर्ण क्षणों को भस्मी में बदलते रहें अथवा बाहर के विषय-भोगों को बाहर ही चिन्तन से त्यागकर भीतर आत्मा की राह लें । दोनों रास्तों पर एक साथ चलने का दावा करने वाला मिथ्याभिमानी है । वे भले ही ज्ञान के दशानन हो जावें परन्तु दशाननवाद से आत्म-तत्व को प्राप्त नहीं कर सकते । भटक सकते हैं और लच्छेदार बातों से समाज को भटका सकते हैं ।

यदि तुम कहो कि तुमने मेरा और तेरा की भावनाओं को सर्वथा त्याग दिया है तो तुम सबकी मेरा-तेरा रूपी भावनात्मक चितायें जलाने से डरते क्यों हो ? यदि तुम कहो कि तुमने बाह्य जगत के भोगों का परित्याग कर दिया है तो ज्वाला का प्रतीक धारण करने से कतराते क्यों हो ? जब वसुधैव कुटुम्ब-कम् तुमने स्वीकार लिया है तो पत्नी-पुत्र की चहारदीवारी में ढोंगी और स्वांगी बनकर क्यों बैठे हो ? स्पष्ट है कि कथनी और करनी में भेद है । बाहर की चाह अभी भीतर की राह रोके है । यदि कहो कि भविष्य के भय से तुम

बाहर नहीं निकलते हो कि कल खाऊँगा क्या ? पहनूंगा क्या ? यदि यह भय तुम्हें रोके है तो तुम भीतर की राह नहीं जानते हो, यदि जानते तो आशंका और भय का प्रश्न ही नहीं उठता ! यदि कहो कि भय नहीं है तो इच्छायें रोके हैं तुमको ! तब भी आत्म-मार्गी नहीं हो। केवल आत्म-मार्गी होने की प्रर्दशनी सजाकर अपने अहं को शांत कर रहे हो। स्वयं को इस प्रकार बहका लिया है कि मेरे सत्य वचन अब तुम्हें तीखे लग रहे हैं और क्रोध मुखड़े पर झलकने लगा है। क्रोध ! यदि तुम कुपित हो तो आत्म-मार्गी कैसे ? क्रोध त्यागो !

इसी तत्व को माधव स्पष्ट कर रहे हैं कि जिसने बाहर के विषय भोगों को बाहर ही त्याग दिया, इच्छा, भय और क्रोध से रहित हुआ जो वही तत्वज्ञानी हैं ! वही सत्यधर्मा है। वही मोक्ष परायण मुनि है।

अण्डा देखा है तुमने ?

जब तक चूजा अण्डे के खोल में रहता है खोल ही उसका सब कुछ है। खोल ही माई-बाप है ! खोल ही उसका प्राणाधार है। यदि खोल फूट जाये तो चूजा अधूरा ही मर जाये। परन्तु बन गया जब चूजा पूरा और फोड़कर खोल आ गया बाहर—फिर खोल का क्या प्रयोजन ? खोल से मोह कैसा ? पंखों में हवा भरने लगी ! यहाँ उड़ा ! वहाँ उड़ा !! पेड़ों पर बैठ चह-चहाया ! कलियों के साथ मुस्कराया ! फूटे खोल में फिर वह बताओ कब आया ?

बता रे मेरे प्यारे आत्म-मार्गी ! यदि सचमुच खोल माया का तूने तोड़ दिया है। खुल गई हैं आंख तेरी ! आत्मतत्व को पा गया है तू ! भीतर की राह पकड़ ली है तूने—तो फिर खोल से क्यों चिपका बैठा है ? खुल गये हैं पंख तेरे ! चल उड़ फिर संग हवाओं के। प्राण और अपान को समकर भृकुटी में ध्यान लगा ! सुन्दर मोहक कन्हाई की मनोहर झांकी अपने अन्तर में सजा ! सहस्रों सूर्यों सा तेजस्वी मुस्कुराता मुखड़ा मेरे कन्हाई का। फिर देख उसे भीतर-बाहर-सर्वत्र ! धारणा की अनुपम मूरत सजा; ध्यान की जगमग ज्योति जला ! एको कृष्णा द्वितीयो नास्ति समाधि हो जाये। सर्वत्र वही है। वही माता है। वही पिता है। बन्धु सखा वही है। सम्पूर्ण जगत कृष्णमय है। सर्वत्र वही है। हर शरीर मन्दिर है कृष्ण का ! हर पेड़, हर पक्षी-पशु—मोहक झांकी है कन्हाई की ! सम्पूर्ण ब्रह्ममय है। कृष्णमय है। फिर भय कैसा ? क्रोध किससे ? इच्छायें किसकी ?

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

मेरे को यज्ञ और तपों का भोगनेवाला, सम्पूर्ण लोकों के ईश्वरों का ईश्वर; सम्पूर्णभूत प्राणियों का निस्वार्थ प्रेमी जानता है वही शान्ति को प्राप्त होता है ।

जानो रे मोहक कन्हाई को ! सम्पूर्ण ईश्वरों का ईश्वर तुम्हारे शरीर देवालय में आत्मा होकर अवतरित हुआ है । जीवन का एक-एक क्षण ! बून्द-बून्द रक्त निस्वार्थ भाव से, निष्काम भाव से लुटा रहा है तुम पर ! कितनी फीस दी सांसों की ? कुछ नहीं ! फिर हर सांस को क्यों नगद कर रहे उसी के खिलौनों से ? उसके निस्वार्थ प्रेम की सांस को मुफ्त में लेकर सकाम भाव से नगद करनेवालों क्या यही धर्म है ? क्या तुम आत्मा के धर्म (धर्म+आत्मा=धर्मात्मा) के उपासक हो !

देखो उसके प्यार को ! पहचानो उसकी निष्काम सेवा को । हर शरीर में बैठा वह हर शरीर के जूठन को प्रेमपूर्वक भोगता यज्ञ के द्वारा रक्त मांस में बदल रहा है । देखो ! देखो !! आज भी घट-घट वासी राम हर शबरी के जूठे बेर प्रेमपूर्वक खा रहा है । पहचानो ! तुम जो खाना खाते हो उसी जूठन को आत्मा रक्त-मांस में बदलता है । हर शरीर में ! ऐसा निस्वार्थ प्रेमी ! ऐसा दयालु, ऐसा कृपालु दूसरा कौन हो सकता है । अहा !! महेश्वर कितना प्रेमी है । आज भी प्रत्येक शरीर रूपी गोपी आत्मा रूपी कन्हाई को माखन खिलाती है । दूध पिलाती है । हर शरीर रूपी घर में छिपा माखनचोर मक्खन मलाई खाता है । री ग्वालिन रूपी बुद्धि ! काहे छली जा रही है । चल भीतर ! छले छली छलिया को ! जायेगा कहाँ ? बचेगा कैसे ? वह भीतर बन्द है । तेरी शरीर रूपी कुठरिया में ! अब मत करे देरी !!

महाभारत का पांचवा दिन ढल रहा है । सूर्यदेव अस्ताचल की ओर झुकते चल रहे । श्रीमद्भगवद् गीता रूपी अमृतमयी नदी में हमारी नाव 'कर्म संन्यास योग' रूपी धाराओं में हिचकोले ले रही है । सर्वत्र माधव ही माधव है । आनन्द ही आनन्द है ।

हम मतवालों की टोली मस्त झूम रही है । सम्पूर्ण भूमण्डलों का अधिपति सारथि बना है । हर शरीर का सारथि ! फिर डर कैसा ? मोह कैसा ? अब

तो अप्राप्त भी कुछ बचा नहीं है तो इच्छा कैसी ? जीवन के सत्य के रहस्य को पाकर आनन्द ही आनन्द है ।

झूमकर मौत से कह दिया है सुहाग की चादर ओढ़े ! यमराज के हाथ जिन्दगी की शहनाई थमा दी है । प्रकृति के पैरों घुंघरु बांध दिये हैं । नक्षत्रों की दीपमालिका सजा दी है । सांसों के गीत, धड़कनों की थाप पर····भज मन गोविन्द हरि ! गोविन्द हरि !

हरि ॐ ! नारायण हरि !!

श्री मद्भगवद् गीता दिव्य दर्शन के पांच अध्याय विज्ञ पाठकों के हाथ आ चुके हैं, हमारा सतत् प्रयत्न है कि शीघ्रातिशीघ्र बाकी अध्याय प्रकाशित हो जायँ ताकि जन-जन तक पहुँच सके, गीता का अद्भुत ज्ञान और आत्मस्थ हो सकें भटकते मन ।
पुस्तक के प्रकाशन में तन-मन-धन से निष्काम सहयोगी बने जिससे पुस्तक यज्ञ रूपी महाभियान निरन्तर चलता रहे ।

हरि ॐ ! नारायण हरि !

श्रीमद्भगवद्गीता

दिव्य दर्शन

षष्ठोअध्याय

श्री स्वामी सनातन श्री

श्रीमद्भगवद्गीता रूपी महाभारत के छठवें दिन में हम प्रवेश पा रहें हैं। हमारी नाव ज्ञान के इस अथाह सागर के मध्य में तैर रही है। गोविन्द ही हमारे नाविक हैं। खुला नीला स्वच्छ एवं निर्मल आसमान है। श्रीकृष्ण रूपी सूर्य पूर्व में मुस्कराने लगा है। ज्ञानमयी सूर्य रश्मियों से सम्पूर्ण सचराचर जीवन्त कोलाहल करने लगा है। ज्ञान के चप्पुओं से हमारी नाव ज्ञान सागर में गहरे उतरती जा रही है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

जो पुरुष कर्म के फल को न चाहता हुआ अर्थात् अनासक्त भाव से मात्र करने योग्य कर्म को ही करता है वह सन्यासी भी है और योगी भी। अग्नि को त्यागने वाले न तो योगी हैं और न सन्यासी तथा कर्म को मात्र क्रियाओं से त्यागने वाले भी योगी और सन्यासी नहीं होते।

भगवान श्रीकृष्ण महाभारत युग के मध्य में खड़े वीरवर अर्जुन को उपदेश दे रहें हैं। उसी प्रकार घट-घट वासी आत्मा अनन्त रूपी श्रीकृष्ण, (दस इन्द्रियों के अर्जन से अर्जित जीव रूपी) अर्जुन को जीवन रूपी संग्राम में उपदेश कर रहें हैं। श्री भगवान कहते हैं, अनासक्त कर्म ही सच्चे सन्यासी, योगी और तपस्वी का महान गुण है। निष्काम कर्म ही जो अनासक्त भाव से किया जाता है सत्य रूप में ईश्वर की राह है।

चारों और फैली इस प्रकृति में यदि हम सूक्ष्म और गम्भीर चिन्तन करें तो उपरोक्त श्लोक स्वतः स्पष्ट होने लगता है। ईश्वर की राह वही तो होगी जिस राह ईश्वर स्वयं चला हो। आत्मा होकर आज भी प्रभु अनासक्त भाव से सम्पूर्ण सचराचर का रक्षण, उद्धार एवं भरण-पोषण कर रहें हैं। जगत आत्मा होकर आज भी परमेश्वर सम्पूर्ण वनस्पतियों तथा जीवधारियों को यथा संतति से वरद कर रहे हैं। आत्मा होकर सम्पूर्ण सचराचर की सेवा करते हुए वे कभी भी मोहासक्त इच्छाओं अथवा उपलब्धियों से लिप्त नहीं होते हैं। जब आत्मा होकर नारायण प्राणी मात्र के समर्पित सेवक बने हैं तो सच्चा योगी, तपस्वी और सन्यासी वही तो होगा ? जिसने जीवन के प्रत्येक क्षण को प्राणी मात्र को अनासक्त सेवाओं में अर्पित कर दिया हो। करने योग्य वही कर्म है जो आत्मा द्वारा, निष्काम सेवाओं में प्रदर्शित है। न करने योग्य कर्म वही है जो मन की अतृप्तियों

से उत्पन्न होता है। भले ही ऐसा कर्म पूजा-पाठ तथा दान-तप ही क्यों न हो। आत्म प्रेरित कर्म ही करने योग्य कर्म है। मन की अतृप्तियों से प्रेरित कर्म, अकर्म ही कहलायेगा।

सच्चा ब्राह्मण योगी तपस्वी उसी को कहते हैं जो यज्ञ का अनुसरण करता हो तथा गौमाता की सेवा करता हो। यज्ञ का अर्थ उत्पत्ति से है। अर्थात् जो सृष्टि यज्ञों में सहायक हो। पुन: स्पष्ट करता हूँ, जो उत्पत्ति के यज्ञ करने में ईश्वर का साथ दे रहा हो। यज्ञ का सही स्वरूप उत्पत्ति ही है। सड़ी हुई खाद और मिट्टी का सुन्दर अन्न में प्रगट होता। इस खाद का पेड़ों के गर्भ में यज्ञ होकर नाना रसीले फलों और अन्नादि में लौटना, उत्पत्ति का यज्ञ है। चारों वेदों ने हवन आदि को, इसी यज्ञ को स्पष्ट करने के हेतु बताया है। इस प्रमाण से जो खेती करता है वही यज्ञ को करता है। आधुनिक ब्राम्हणवाद में, ब्राम्हण, इस कर्म से स्वयं को वर्जित करता है। श्रीमद्भगवद्गीता इस थोथे ब्राम्हणवाद को नकारती है। श्रीमद्भगवद्गीता कर्म को क्रियाओं से त्यागने वाले तथा कथित, जन्म के अभिमान से प्राप्त ब्राम्हणों, योगियों तथा संन्यासियों को, योगी सन्यासी अथवा तपस्वी मानने को तैयार नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोक में श्री भगवान स्पष्ट रूप से कह रहें हैं कि कर्म को क्रियाओं से त्यागने वाले योगी, तपस्वी और सन्यासी नहीं होते। जो उत्पत्ति में सहायक नहीं हुआ, जिसने निष्काम भाव से वनस्पतियों तथा जीवधारियों की समर्पित सेवा नहीं की उसने, इश्वर भक्ति को कभी नहीं जाना। एक कृषक ही सत्य रूप में यज्ञ करता है तथा गौवों को चराने वाला ही सच्चा गोभक्त !

आधुनिक सन्यासीवाद में सन्यासी को अग्नि नहीं छूनी चाहिए। ऐसे भ्रमात्मक मत बहुत से सम्प्रदायों ने घोषित किये हैं। भगवान श्रीकृष्ण, श्रीमद्भगवद्गीता में इन मतों का भी खण्डन करते हैं यह मत स्वयं में भी हास्यास्पद है। सन्यासी गेरूआ वस्त्र को धारण करता है। यह रंग अग्नियों को वरण करने वाले का प्रतीक है इसीलिए सन्यासी को अग्निवेश कहते हैं। सन्यास का अन्तर्भाव भी स्पष्ट कर देना चाहूँगा।

सन्यास ग्रहण करते समय, सन्यासी का सूक्ष्म रूप से यही भावनात्मक संकल्प होता है, "मैं इन यज्ञ की ज्वालाओं से प्रकट हो रहा हूँ। यज्ञ को अग्नियां ही मेरे माता-पिता स्वजन सब कुछ हैं। इन्हीं यज्ञ की ज्वालाओं में अपने सम्पूर्ण अतीत को, उपलब्धियों सम्बन्धों तथा स्मृतियों के समेत संकल्प पूर्वक भस्मसात करता हूँ। अतीत का मैं, जो कुछ भी था ? उसको भी यज्ञ की ज्वालाओं में भस्मसात करता हूँ। यज्ञ की ज्वालाओं से यज्ञमय, अग्निवेष, अग्नि स्वरूप होकर नूतन जीवन को धारण करता हूँ। अग्नि ही मेरी राह है। अग्नि ही मेरा वस्त्र है। यज्ञ की अग्नि में, यज्ञ स्वरूप आत्मा से अद्वैत करना ही मेरा लक्ष्य है। अग्नि समान ही संसार को प्रकाश दूंगा तथा अग्नि समान ही अभेद-भाव से प्राणी मात्र की समर्पित सेवा करूँगा। सम्पूर्ण सचराचर में आत्मा रूपी

ब्राम्हाग्नि का दर्शन करूँगा। आत्मस्थ जीवन, शरीर इन्द्रियों का आत्म-यज्ञार्थ प्रयोग मेरा धर्म है। आत्म यज्ञार्थ, आत्म सेवार्थ, आत्ममय, सम्पूर्ण सचराचर को ग्रहण करूँगा। सभी में एक ब्रम्ह का दर्शन करूँगा। ब्रम्ह अर्थात् आत्मा की भांति ही सम्पूर्ण सचराचर की सेवा करूँगा।"

इससे भी स्पष्ट है कि अग्नि ही जिसका स्वरूप है, अग्नि ही जिनकी राह है, अग्निवत् ही जिन्हें सचराचर की समर्पित सेवा करनी है। यदि ग्रन्थों में भी इसी प्रकार की भावनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं। विषय वासनाओं रूपी अग्नियों से दूर रहने की चर्चा तो मिलती है परन्तु, खाना पकाने की मनाई है, ऐसा कहीं नहीं मिलता है। सन्यासी को भेदभाव तथा काम वासनाओं आदि अग्नियों से दूर रहना चाहिए, न कि सेवा रूपी अमृतमय कर्म को, जो कि ईश्वर की राह है, उसका परित्याग कर देना चाहिए। ऐसा करना सर्वथा अनुचित है।

जिनके प्रभु सप्त लोक में रहते हैं ? इस मार्ग के सन्यासी अपने लिए दूसरा, तीसरा तथा चौथा लोक ढूंढ़ सकते हैं। तीसरे, चौथे आसमान का दम्भ उनके लिए सही हो सकता है। परन्तु जिनके, भगवन श्री कृष्ण, आत्मा होकर घट-घट वासी हों, उनका स्थान तो जीव मात्र की समर्पित सेवा, जीव मात्र में अपने आराध्य प्रभु का दर्शन तथा अकिंचन भाव से नमन हो सन्यासी की शोभा है।

यंम संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥

हे अर्जुन संन्यास ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग के रूप में भी जान। क्योंकि संकल्पों को न त्यागने वाला कोई भी पुरूष योगी नहीं होता।

भगवान श्री कृष्ण वीरवर अर्जुन को योगी और सन्यासी के भेद को स्पष्ट कर रहे हैं। इसको जानना हमारे लिए बहुत जरूरी है। वस्तुतः योगी और सन्यासी में कोई भेद नही है। योगी उसको कहते हैं जो आत्मा रूपी परमेश्वर में मिल गया हो। ईश्वर में आत्मस्थ होने के लिए अर्थात् योगी होने के लिए हमें सांसारिक संकल्पों से वियोग करना जरूरी होता है। वस्तुतः योग ही सन्यास है तथा सन्यास ही योय है।

योग का अर्थ है जुड़ जाना। इस जुड़ने में भी एक विशेषता है जिसे हम उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं। कल्पना करें कि आपके पास तीन गुड़ियां हैं। एक पत्थर की गुड़िया है, दूसरी कपड़े की गुड़िया है तथा तीसरी गुड़िया चीनी अर्थात् शक्कर की बनी हुई है। अव हम देखेंगे कि इनमें से कौन सी गुड़िया पानी के साथ किस प्रकार योग करती है।

सबसे पहले हमने पत्थर की गुड़िया को जल में डाला। गुड़िया जल में डूब गयी। प्रश्न उठा, क्या गुड़िया से जल का योग हो गया ? नहीं! गुड़िया जल में डूब गयी लेकिन

योग नहीं हुआ। जब निकाला बाहर, तो पत्थर की गुड़िया ज्यों की त्यों थी। जल और गुड़िया का द्वैत कायम रहा। इसी प्रकार हम में से बहुत से भक्त और विद्वान तथा, तथा-कथित योगीजन, पत्थर की तरह भगवान श्रीकृष्ण रूपी महासागर में प्रवेश तो पाते हैं। उस जल में डूबकर आनन्द भी लेते हैं। परन्तु निकलने पर वे पत्थर की शिला की भांति अलग होकर पुनः सांसारिक विषयों के दोहन से भक्ति रूपी जल की अन्तिम बूँद भी अपने शरीर से उड़ा देते हैं। यह क्षणिक भक्ति, योग नहीं कहलाती।

फिर हमने कपड़े की गुड़िया को जल में डाला। कपड़े की गुड़िया का रोम-रोम जल में व्याप्त हुआ। क्या योग हो गया ? नहीं ! योग नहीं हुआ जल से बाहर निकलने के बाद उस गीली गुड़िया को जब हमने धूप में पत्थर की शिला पर रखा तो कुछ काल के उपरांत गुड़िया पुनः कपड़े की गुड़िया थी। उसमें जल का कोई अंश शेष नहीं था। गुड़िया योग से कोशों दूर है। इसी प्रकार हम में से बहुत से भक्त, ज्ञानी और योगी जन कपड़े की गुड़िया की भांति कृष्ण रूपी सागर में उतरते हैं। प्रभु भक्ति रुपी रसमय जल से रोम-रोम सिंचते हैं। अंग-अंग में ईश्वर भक्ति रुपी स्फुरण, परमानन्द को कुछ समय तक प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु संकल्प की चट्टानों पर सांसारिक वासनाओं की धूप के नीचे कृष्ण रूपी, कृष्ण योग रुपी जल धीरे-धीरे वाष्प बनकर उड़ जाता है। पुनः कपड़े की गुड़िया की तरह वे अलग-थलग पड़ जाते हैं। श्रीमद्भगवद् गीता का यह श्लोक उन्हें योगी अथवा सन्यासी नहीं स्वीकारता है।

जब हमने चीनी की गुड़िया जल में डाली। गुड़िया जल में व्याप्त हो गयी। कुछ समय के उपरांत जब हमने ऊपर निकाला तो क्या निकला ? कुछ भी नहीं! गुड़िया चीनी की थी, जल में घुल गयी। पानी में मिल गयी। अपने रूप को खो बैठी। पूछा क्या योग हो गया ? उत्तर मिला, हां ! योग हो गया।

पानी और चीनी का योग हुआ। पानी, पानी न रहा। गुड़िया, गुड़िया न रही। दोनों के योग से जो यौगिक बना उसका नाम न तो पानी है और न ही गुड़िया। उसका नाम है शरबत।

जीव आत्मा का जब योग होता है तो जीव; जीव नहीं रहता, आत्मा भी अपने आत्मस्वरूप को व्यापक बना देती है। जब मिलते हैं दोनों, तो एक नया स्वरूप प्रगट होता है, जिसका नाम है परमात्मा! भगवान श्री कृष्ण ! जिसकी उपलब्धि है, मोक्ष!

ऐसी अवस्था संकल्प तथा विकल्प से रहित होकर, आत्मस्थ होकर जीने से ही सम्भव है! जिनके जीवन में संकल्प बाकी हैं, वे कदापि योगी नहीं हो सकते ! वे क्षणिक योगी हैं पुनः भोगी हैं ! भोगी, योगी नही होता !

गोविन्द हरि !
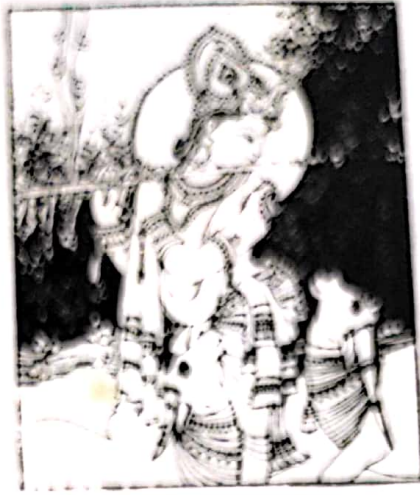
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

(योगम्) योग में (आरुरुक्षोः) आरूढ़ होने की इच्छा वाले (मुनेः) मननशील (कर्म) कर्म करना (कारणम्) हेतु (उच्यते) कहा है (तस्य) उस (योगारूढस्य) योगारूढ़ पुरूष के लिए (शमः) सर्व संकल्पों का अभाव (एव) ही (कारणम्) हेतु (उच्यते) कहा है।

हे अर्जुन ! समत्व बुद्धि रूपी योग में आरुढ़ होने की इच्छा ही मननशील पुरुष के लिए, निष्काम भाव से कर्म करना ही, हेतु कहा है और योगारुढ़ हो जाने पर अर्थात् योग में स्थित होने पर अर्थात् आत्मस्थ होने पर, आत्मा की भांति ही योगारूढ़ पुरूष के लिए सम्पूर्ण संकल्पों का अभाव ही हेतु कहा है।

श्लोक को समझने के लिए हमें किसी कर्म की पृष्ठ भावना को स्पष्ट करना होगा। भौतिक व्यक्ति अथवा यूं कहें सकामी जन, किसी भी कर्म करने की प्रेरणा प्रतिफल से ही ग्रहण करते हैं। अमुक अभीष्ठ अर्थात् धन आदि की प्राप्ति के लिए मैं अमुक कार्य को करूँ। इस प्रकार सकामी जन, भौतिक उपलब्धियों अर्थात् संकल्पों से ग्रसित होकर ही किसी कार्य को करने की प्रेरणा पाता है। व्यवसाय करूँ, जिससे परिवार का भरण-पोषण हो। परिवार की सुख और समृद्धि के लिए अमुक व्यवसाय को अधिक लाभ से करूँ। अमुक अभीष्ठ की प्राप्ति के लिए नौकरी अथवा धन्धा करूँ। लड़के को नौकरी दिलाने के लिए, अमुक देवता की पूजा अर्चना और हवन करूँ। इस प्रकार के संकल्पों से युक्त होकर किये गये कर्म, श्रीमद्भगवद्गीता की दृष्टि में, सकाम कर्म की संज्ञा पाते हैं। ऐसा कर्म एक भौतिक सकाम अज्ञानी के

लिए कदाचित उचित मान भी लिया जाय, परन्तु एक योगी के लिए सर्वथा अनुचित तथा उसकी राह का सबसे बड़ा अवरोध है।

सकाम भाव से अर्थात् संकल्प से युक्त होकर कर्म करने के स्थान पर, किसी भी कर्म को करने के लिए प्रेरणा का एक दूसरा उद्‌गम भी तो हो सकता है। उपरोक्त श्लोक किसी भी कर्म की प्रेरणा के पीछे इसी श्रोत को इंगित कर रहा है। व दूसरा श्रोत क्या है ?

दूसरा श्रोत है स्वयं को ईश्वर के सन्मुख रखकर कर्म करने के लिए प्रेरित करे। "ईश्वर, आत्मा आत्मस्वरूप होकर, सम्पूर्ण सचराचर को निष्काम भाव से धारण करता है। घट-घट वासी आत्मा होकर, गोविन्द, किसी फल की इच्छा के बिना, सम्पूर्ण सचराचर को जीवन के क्षण, पेट के लिए अन्न, सांसे, धड़कने तथा संतति से वरद् कर रहे हैं। प्रभु आत्मा होकर अपने द्वारा किये किसी भी कर्म के फल की चाह नहीं करते। आत्मा सभी प्रकार के संकल्पों से रहित होकर निष्काम तथा अनासक्त भाव से सचराचर को धारण कर रहा है। अरे योगी ! आत्मा की राह चला है तू ! आत्मा से अद्वैत करने चला है तू ! तेरा भी तो धर्म है कि तू भी आत्मा की भाँति ही; आत्म-यज्ञार्थ, आत्म-सेवार्थ, आत्म-हितार्थ, आत्मस्थ होकर सम्पूर्ण सचराचर की सेवा, आत्मा की भाँति ही संकल्पों से रहित होकर करे।"

संकल्पों से रहित किया गया कर्म नारायण को समर्पित होता है। इस प्रकार के सभी कर्मों में, पूजा और भक्ति का सुख और आनन्द एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। जिस प्रकार मंदिर की सेवा और आराधना कर, भक्त प्रसन्न तथा रोमांचित होता है। उसी प्रकार आत्मस्थ होकर किये गये सभी कर्म, असीम सुख और आनन्द की आत्मानुभूति प्रदान करते हैं।

जब भी हम किसी कर्म को संकल्प सहित अर्थात् सकामभाव से, यथा फल की प्राप्ति के लिए करते है, तो उसमें फल मिलने अथवा न मिलने की आशंका का भय और तनाव के साथ ही लोभ, मद, दुःख और तथाकथित सुख की अनुभूतियों का

समावेश रहता है। फल न मिलने पर अथवा घाटा हो जाने की पीड़ा, फल आने से पहले भी हमारी मानसिकता को रोगी बनाती रहती है। ठीक इसके विपरीत जब हम आत्मस्थ भाव से कर्म को धारण करते हैं, चाहे वह गृहस्थ कर्म हो अथवा गुरुकुल की अवस्था में किया गया कर्म हो अथवा वानप्रस्थ का कर्म हो, सभी प्रकार के कर्म में सुखद दिव्यानुभूति पूर्णरूपेण होती है। हम जो कुछ भी कर रहे हैं, नारायण के निमित्त होकर निमित्त भाव से उसी के लिए कर रहे है। ऐसे भाव सहित कर्म आरम्भ से लेकर उपरान्त तक, दिव्य अलौकिक तथा परमानन्द की अनुभूतियों को सजीव तथा निरन्तर रखता है। जो कुछ है सब नारायण का है। नारायण ही आत्मा होकर संतान को प्रकट कर रहे हैं। नारायण ही घट–घट वासी आत्मा होकर हमारे चहुँ ओर हमारे गृहस्थ के रूप में प्रगट हैं। आत्मा होकर, नारायण ही कर रहे हैं। मुझे भी नारायण को समर्पित होकर आत्मस्थ भाव से निमित्त सेवाओं को प्राप्त होना चाहिए। यही सच्चा गृहस्थ धर्म है। योगी, चाहे गुरूकुल में हो अथवा गृहस्थ में हो अथवा वानाप्रस्थ हो अथवा सन्यास हो; ईश्वर को समर्पित होने के कारण, वह सदा सुखद दिव्यानुभूतियों को प्राप्त रहता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के उपरोक्त श्लोक में इसी विषय को सूक्ष्म रूप से दर्शाया गया है संकल्पों का अभाव ही सुख का हेतु है। यही योग और भक्ति का भेद है। भोगी चाहे किसी स्तर पर खड़ा हो, संकल्पों से युक्त होने के कारण, सदा मानसिक रूप से रोगी रहता है। संकल्प रहित योगी का जीवन ही सुखद निरोग जीवन है।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढ़स्तदोच्यते ॥ ४ ॥

(यदा) जिस (न) न (इन्द्रियार्थेषु) इन्द्रियों के भोगों में (अनुषज्जते) आसक्त होता है (कर्मसु) कर्मों में (हि) ही (अनुषज्जते) आसक्त होता है (तदा) उस (सर्वसंकल्प सन्यासी) सर्व संकल्पों का त्यागी पुरूष (योगारूढ़ः) योगारूढ़ (उच्यते) कहा जाता है।

जिस काल में न तो इन्द्रियों के भोगों में आसक्त होता है तथा न कर्मों में ही आसक्त होता है। उस काल में सर्वसंकल्पों का त्याग ही सन्यासी पुरूष का योगारूढ़ कहा जाता है। सन्यासी तथा योगी में भेद नहीं है। केवल भेद इतना है कि योगी, गुरूकुल में भी योगी, हो सकता है। योगी, गृहस्थ में भी योगी हो सकता है। योगी, वानाप्रस्थ में भी योगी हो सकता है तथा योगी, सन्यास में भी योगी ही होता है। सभी अवस्थाओं में योग युक्त पुरूष, जो संकल्पों से रहित, आत्मस्थ होकर जी रहा है, योगी कहलाता है। सन्यास जीवन की एक अवस्था है जो वरणाश्रम धर्म से ऊपर है। उस अवस्था को प्राप्त हो गया आत्मस्थ योगी, वरणाश्रम धर्म से ऊपर निकल कर, सन्यासी कहलाने लगता है। "स" का अर्थ होता है 'ज्योति' तथा 'न्यासी' का अर्थ है निमित्त भाव। सन्यासी शब्द का अर्थ होता है जो आत्म-ज्योतियों में समर्पित होकर जी रहा है। जिसका जीवन एक न्यासी अर्थात् ट्रस्ट का जीवन है। तथा वही सन्यासी है अर्थात् ज्योतियों का ट्रस्टी अर्थात् आत्म ज्योतियों को ही सब कुछ मानकर उनके प्रति समर्पित होकर ट्रस्टी के भाव से सचराचर में जी रहा है। इस प्रकार योगी और सन्यासी में भेद नहीं है। दोनों के अर्थ समान हैं।

जिस काल में मनुष्य न तो इन्द्रियों में आसक्त होता है तथा न ही कर्मों में आसक्त होता है तथा सम्पूर्ण सचराचर में नारायण के अतिरिक्त किसी भी भाव को ग्रहण नहीं करता है। ऐसे सम्पूर्ण संकल्पों से रहित हो गया पुरूष, सन्यासी अर्थात् योगी कहलाता है।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत ।
आत्मैव ह्यात्मनों बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।। ५ ।।

(आत्मना) अपने द्वारा (आत्मना) अपनो का (उद्धरेत) उद्धार करे (आत्मा-नम्) अपने जैसों को (नअवसादयेत्) अधोगति में न पहुँचावे (हि) यह (आत्मा) आप (एव) ही (आत्मनः) अपना (बन्धुः) मित्र है (आत्मनः) अपना ही (रिपूः) शत्रु है।

अपने द्वारा अपने जैसे आत्मधारियों का उद्धार करे तथा दूसरों को अधोगति में न पहुँचावे, क्योंकि जीव स्वयं ही अपना मित्र है तथा स्वयं ही अपना शत्रु है।

मनुष्य मात्र का धर्म है कि स्वयं अपना तो उद्धार करे ही, अपने साथ अपने जैसे लोगों को भी आत्मस्थ राह दे तथा उनके उत्थान में व्यापक रूप से सहायक हों।

न स्वयं भटके और न दूसरों को भटकावें। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म सत्य रूप में वही है जो अपने साथ प्राणी मात्र का उद्धार करे। अपना उद्धार करना ही मात्र धर्म की राह नहीं है। वरन् अधूरा मार्ग है। यदि स्वयं अपना ही उद्धार करना होता तो आत्मा तो स्वतः उद्धार को प्राप्त है, फिर आत्मा क्योंकर जीव के उद्धार के लिए निरन्तर खेत की मिट्टी को अन्न तथा फल में, एवं वनस्पतियों को नाना जीवों की देह में परिणित करता? सच्ची तपस्या, साधना के साथ ही प्राणी मात्र की समर्पित सेवा एवं उनके उद्धार में है। यही दर्शन हमें सचराचर में व्याप्त आत्मा से प्राप्त होता है। धर्मात्मा उसी को कहते हैं जो आत्मा का निरन्तर चिन्तन करे। आत्मा ही की राह का अक्षरशः अनुसरण एवं आचरण करे। सम्पूर्ण सचराचर में आत्मा जीव के हित में ही निरन्तर तल्लीन रहता है। सच्ची सेवा, प्राणी मात्र की समर्पित सेवा है। अपने उद्धार के साथ-साथ, सचराचर के उद्धार में भागी हो, देह तथा प्रकृति के ऋण से उन्मुक्त हो। तीन प्रकार के ऋण बतलाये गये हैं। यथा— पितृ ऋण, गुरू ऋण, तथा देव ऋण। पितृ ऋण, प्रकृति तथा धरती माता के प्रति समर्पित होकर सेवा करने से उतरती है। जीव मात्र में परमेश्वर का भाव लाकर, सम्पूर्ण सचराचर को माता-पिता के समान ग्रहण करते हुए, सबके प्रति समर्पित होकर जीना ही पितृ ऋण से उन्मुक्त होना है। मातृ तथा पितृ ऋण से उन्मुक्त होना ही सत्य मार्ग है। गुरूओं के द्वारा दिये गये अमृतमय ज्ञान का, सम्पूर्ण श्रद्धा और आस्था के साथ आचरण और व्यवहार में पालन कर तथा ज्ञान को व्यवहारिक स्वरुप देना ही आचार्य ऋण की कसौटी है। ज्ञान को आत्मस्थ होकर आचरण तथा व्यवहार में प्रतिक्षण धारण करते हुए, उसके सूक्ष्म ज्ञान जानना तथा उस ज्ञान को व्यवहारिक आचरण और व्यवहार में सिद्ध करने के उपरांत, उस ज्ञान को मनुष्य मात्र तक पहुँचाकर, सभी के जीवन को अमृतमय बनाना ही आचार्य ऋण से मुक्त होना है। आत्मा के साथ अद्वैत कर आवागमन की सीमाओं से मुक्त होना ही देव ऋण से मुक्ति मानी गयी है। भजन कीर्तन गाने मात्र से देव ऋण से मुक्ति नहीं होती है। आत्मद्वैत ही देव ऋण की मुक्ति का मात्र साधन है।

व्यक्ति अपना शत्रु तथा अपना मित्र स्वयं होता है। बाहर के शत्रु और मित्र क्षणिक होते हैं। जीव अपना मित्र और शत्रु जीव स्वयं होता है। मेरी दुख और पीड़ाओं का कारण, मैं स्वयं हूँ। जो ऐसा जानकर प्रत्येक पराजय के कारणों को

अपने भीतर खोजता है वही भविष्य में सफल होता हैं। जो अपनी पराजय का कारण दूसरों को मानता है, वह अन्धता को प्राप्त होता सदा पराजित होता रहता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

(तस्य) उसका (आत्मनः) अपना (आत्मा) आप (एव) ही (बन्धुः) मित्र है (येन) जिसका (आत्मना) अपना (आत्मा) मन और इन्द्रियों सहित शरीर (जितः) जीता हुआ है (तु) और (अनात्मनः) जिसके द्वारा मन और इन्द्रियों सहित शरीर नहीं जीता गया है उसका (आत्मा) आप (एव) ही (शत्रुवत्) शत्रुता में (वर्तेत) बर्तता है।

उसका अपना मित्र, वह अपने आप ही में होता है, जिसका अपना मन और इन्द्रियों सहित सम्पूर्ण शरीर पर जीता हुआ है तथा जिसके शरीर और इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं हैं, वह शत्रु के रूप में, अपने आप से ही शत्रुवत् वर्ताव करता है।

उदाहरण देकर समझाता हूँ। कल्पना करें कि आप शतरंज खेल रहे हैं। शतरंज की फड़ पर लकड़ी के मोहरे रखे हुए हैं। दो खिलाड़ी शतरंज के दोनों ओर, आमने-सामने बैठकर शतरंज खेल रहे हैं। क्या उनमें से कोई खिलाड़ी ऐसा कह सकता है, "स्वामी जी! यह मोहरे गलत चाल चल गये हैं। मोहरों की गलत चाल के कारण मैं हार गया हूँ।" यदि कोई खिलाड़ी खिलौनों को अर्थात् मोहरों को गलत चाल के लिए दोष लगा देगा तो सुनने वाले सब लोग हसेंगे ही तथा वे सब उसे मूर्ख ही बताएंगे। भला कहीं मोहरें गलत चाल चल सकते हैं ? मोहरों को चलाने वाला तो स्वयं खिलाड़ी है। जबकि खिलाड़ी स्वयं मोहरों को चला रहा है, तो वह खिलाड़ी, पराजय के लिए मोहरों को किस प्रकार दोषी ठहरा सकता है ?

हां ! यदि खिलाड़ी के मोहरों को प्राण मिल जाये तब फड़ पर से उतर गया मोहरा अवश्य कह सकता है, "स्वामी जी! यह कैसा मूर्ख खिलाड़ी है ? इसे बिल्कुल खेलना नहीं आता है। पहली ही चाल में इसने मुझे फड़ से उतरवा दिया।"

जी हां ! मोहरा अवश्य खिलाड़ी को दोष दे सकता है। उसे खिलाड़ी को दोष देने का सारा अधिकार है। क्योंकि मोहरों को चलाने वाला खिलाड़ी स्वयं हैं।

ठीक इसी प्रकार, जब अपनी पराजय और भूलों के लिए, हम दूसरे लोगों को दोष देते रहते है, कि अमुक के कारण हम हारे। हम मात्र लकड़ी का एक मोहरा ही तो है। मोहरों को ही अधिकार है। कि खिलाड़ियों को दोष दें। जब हम दूसरों को दोष देते हैं तब हम मात्र लकड़ी का एक मोहरा ही तो होते हैं। इस प्रकार दूसरों को दोष देने वाला व्यक्ति शतरंज की फड़ पर रखे लकड़ी के मोहरे के समान हैं। जब हम स्वयं मोहरा बन रहे हैं तो संसार का प्रत्येक हाथ खिलाड़ी बन कर हमें खेलेगा। ऐसी अवस्था में हमें सुख और शांति कहां होगी ? हम तो मोहरों की तरह ही बार-बार फड़ पर बैठाये जाते रहेंगे तथा बारम्बार फड़ से हटाये जाते रहेंगे। मोहरे की नियति ही हमारी नियति बन जायेगी।

यदि हम सत्य रूप में खिलाड़ी होते, तो दोष मोहरों को न देते। पराजय की भूल को अपने भीतर ढूंढ़ते। अगली चालों में हम उन भूलों को सुधार कर, खेल को जीत भी सकते थे। याद रखें ! जब तुम दूसरों को दोष देते हो। तो तुम मात्र मोहरे हो तथा जब तुम पराजय के कारणों को अपने अन्तर में खोजते हो, तो तुम ही सुघड़ खिलड़ी हो। जब तुम मोहरा हो तो सारा संसार खिलाड़ी है। सुख और उपलब्धि की कल्पना ही मत करे। जब तुम खिलाड़ी हो, संसार मोहरा है। आनन्द से खेलो, उपलब्धि ही उपलब्धि है।

वही खिलाड़ी हो सकता है जो इस शक्ति को जानता है कि वह स्वयं अपने मित्र हैं तथा स्वयं ही अपने शत्रु हैं। मित्र और शत्रु का भेद मात्र इतना ही है, जिसने मन इन्द्रियों और वासनाओं को जीत लिया है तथा जिसके शरीर पर, विचारों पर, तथा सम्पूर्ण अतृप्तियों पर, अधिकार प्राप्त कर लिया है, ऐसा जीव ही अपना मित्र कहलाने का अधिकारी है। जो मन इन्द्रियों और वासनाओं का दास बना हुआ है, जिसका शरीर और विचार पर नियंत्रण ही नहीं है। ऐसी बुद्धि से युक्त जीव अपना सबसे बड़ा शत्रु है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥

(शीतोष्णसुखदुःखेषु) सर्दी, गर्मी और सुख, दुख आदि में (मानापमानयोः) पैमान और अपमान में (प्रशान्तस्य) जिसके अन्तःकरण की वृत्तियां अच्छी प्रकार शान्त हैं (जितात्मनः) स्वाधीन आत्मावाले पुरूष की (परमात्मा) परमात्मा में (समाहितः) स्थित है।

सर्दी, गर्मी और सुख, दुख आदि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियाँ अच्छी प्रकार से शांत तथा स्थिर हैं, ऐसे स्वाधीन आत्मा वाले पुरूष के ज्ञान में परमात्मा सम्यक प्रकार से स्थित है। अर्थात् उसके ज्ञान में, परमात्मा के सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं।

पुनः उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं। आपके एक मित्र ने भरीं सभा में किसी भूल के कारण आपका भयंकर अपमान कर दिया। ऐसी अवस्था में बहुत दिनों तक अथवा महीनों तक आप का मन विक्षिप्त होकर, अपमान की पीड़ा में तथा बदले की भावना में, खौलता रहता है। इस प्रकार, अपमान की स्मृति जब तक मनको उबालती रहती है, तब तक, ईश्वर की साधना तथा पूजा आदि सब नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। अन्जाने ही आप उस व्यक्ति का ही चिन्तन करने लगते हैं। भले ही अपमान तथा बदले की भावना से प्रेरित होकर। जिसने भरी सभा में आपका अपमान किया है अर्थात् आपका अपमान करने वाले को ही, आप भक्त तथा पुजारी मान बैठते हैं। इसलिये स्वविवेकी जन किसी से बदला अथवा घृणा आदि का सम्बन्ध नहीं बनाते हैं। वे लोग अपमान करने वाले को भी तत्क्षण क्षमा कर देते हैं। जब सच्चे मन से हम किसी को क्षमा कर देते हैं। तो हम उस घटना की पीड़ाओं से अपने अन्तःकरण को मुक्त कर, ईश्वर की साधना में स्थित होने की अवस्था को पुनः प्राप्त कर लेते हैं। इसीलिए कहा है कि सर्दी-गर्मी और सुख-दुख आदि में तथा मान और अपमान में जिसके अन्तःकरण की वृत्तियां स्वविवेक के द्वारा पूरी तौर से शान्त हो चुकी हैं अर्थात् जिसने अपनी वृत्तियों को पूरी तरह से शान्त करने के लिए, अपने अन्तःकरण को अन्तिम रूप से नारायण को समर्पित कर दिया है। जो मनसा, वाचा, कर्मणा श्रीहरि के चरणों में समर्पित हो गया है। जो सम्पूर्ण सचराचर में अपनी ही अन्तरात्मा का दर्शन करने लगा है। ऐसा स्वाधीन आत्मस्थ पुरूष, सदैव नारायण में स्थित होता हुआ, नारायण स्वरूप होता है। ऐसा जानना चाहिए।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रयः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

(ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) ज्ञान-विज्ञान से तृप्त है अन्तः करण जिसका। (कूटस्थः) विकार रहित है स्थिति जिसकी। (विजितेन्द्रियः) जीती हुई हैं इन्द्रियां (समलोष्टाश्मकाञ्चनः) समान है मिट्टी ओर सुवर्ण। (योगो) योगी (युक्तः) युक्त (इति) ऐसे (उच्यते) कहा जाता है।

ज्ञान विज्ञान से तृप्त हो गया अन्तः करण जिसका तथा विकार रहित है स्थिति जिसकी, जीती हुयी हैं इन्द्रिया जिसकी तथा पत्थर और सोने में समान दृष्टि है जिसकी, ऐसे योगी को ही योग संयुक्त अर्थात् आत्मा से जुड़ा हुआ कहते हैं।

श्रीमद्भगवद् गीता के इस श्लोक में स्पष्ट रुप से भगवान श्रीकृष्ण वीरवर अर्जुन को सत्य-निष्ठ योगी का परिचय करा रहे हैं। श्लोक के आरम्भ में ही ज्ञान और विज्ञान से तृप्त आत्मा वाला लक्षण बताया है। जो ज्ञान और विज्ञान से तृप्त है, श्रीमद्भगवद्गीता, ऐसे लक्षण से युक्त व्यक्ति को ही योगी मानती है। अंध भक्ति, अंध आस्था का इसमें नितान्त विरोध है। वर्तमान युग में बहुत से सम्प्रदाय तथा अन्य सम्प्रदायों की देखी-देखी, सनातन धर्म में भी अंध भक्ति और अंध आस्था की बातें व्यापक रुप से चलने लगी हैं। जैसे श्रीमद्भगवद् गीता में ज्ञान और विज्ञान में तृप्त हो गये व्यक्ति को योग के लिए उचित ठहराया गया है। इसी प्रकार की व्याख्याएं हमें चारों वेदों में मिलती है। जो लोग धर्म को अफीम का नशा मानते हैं, उन्हें यह श्लोक, गलत सिद्ध करता है। ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हो गया व्यक्ति ही मूढ़ भाव को प्राप्त होता हुआ, योग-युक्त हो सकता है। अज्ञानी के लिए योग-युक्त होना उतना सरल नहीं है। अज्ञानी, अज्ञान के वशीभूत होता, निरन्तर अतृप्तियों को जन्मता है। अज्ञान से उत्पन्न हुयीं अतृप्तियां, उसके जीवन को सदा चलायमान रखती हैं। ऐसी अवस्था में उसके लिए योग-युक्त होना अत्यधिक कठिन है। ज्ञान विज्ञान से परिपक्व हो गयी मानसिकता ही मूढ़ भाव को प्राप्त होती हुयी, अन्तिम

रुप से, योग में स्थित हो सकती है। जो व्यक्ति ज्ञान और विज्ञान से तृप्त, परिपक्व मानसिकता को प्राप्त नहीं होता, उसकी मानसिकता कदापि भी विकार रहित नहीं हो सकती। पूजा तथा योग से परमानन्द को प्राप्त होना ऐसे व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है।

जब तक हम गाड़ी को चलाना नहीं सीख जाते, तब तक हम में भय, तनाव और आतंक बना रहता है। गाड़ी चलाने के ज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण अज्ञान की अवस्था में हम भयभीत रहते हैं। परन्तु जब हम गाड़ी चलाने की कला में निपुण अर्थात् दक्ष हो जाते हैं। तो गाड़ी चलाने में सुख और आनन्द मिलने लगता है। गाड़ी चलाने के ज्ञान और विज्ञान में पूर्ण पारंगत हुए बिना हम तनाव से मुक्त नही हो पाते हैं। तनाव से मुक्त हुए बिना, हमें गाड़ी को चलाने का सुख और आनन्द भी प्राप्त नहीं होता है। जब हम गाड़ी को चलाने के ज्ञान और विज्ञान में पारंगत हो जाते हैं उस अवस्था में हम मूढ़ भाव को प्राप्त होते हैं। मूढ़ भाव, ज्ञान और विज्ञान की पूर्ण एवं परिपक्व मानसिकता के उपरान्त प्रगट होता है। अज्ञान, ज्ञान और विज्ञान से पूर्व प्रगट होता है। यही ज्ञान और मूढ़ भाव का भेद है। मूढ़भाव को, ज्ञान और विज्ञान से तृप्त हो गया, परिपक्व मानसिकताओं को प्राप्त हो गया भक्त, ही प्राप्त कर सकता है श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक में मनुष्य मात्र के सूक्ष्म मनोविज्ञान को बड़े ही स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है।

स्वर्ण तथा मिट्टी में भेद रहित वही हो सकता है जिसने सम्पूर्ण इन्द्रियों को जीत लिया हो तथा इन्द्रियों की सम्पूर्ण चेष्टाओं को भी अपने अधिकार में कर लिया हो। ऐसी अवस्था अति दुर्लभ है। इस अवस्था को पाये बिना योग–युक्त स्वरूप को पाना नितान्त असम्भव है। आधुनिक शिक्षा इस अवस्था को प्राप्त होने की सबसे बड़ी अवरोध बन गयी है। शिक्षा के उद्देश्य, इन्द्रियों के विषय तथा भौतिक भटकाव मात्र बन कर रह गये हैं। कभी श्रीमद्भगवद्गीता बालक की शिक्षा में अस्मिता का परिचय देने वाला अमृतमय ग्रन्थ था। आधुनिक युग में शिक्षा के पास श्रीमद्भगवद्गीता जैसा ग्रन्थ न होकर नया ग्रन्थ, "अच्छी

नौकरी, बढ़िया तनख्वाह और मोटी घूस", इतनी सी ही तीनों वाक्यों वाला अब अस्मिता का परिचय मात्र है। जिस युग का यह ग्रन्थ है उस बालक की परिपक्व मानसिकता, आज बुढ़ापे तक मनुष्य के लिए अति दुर्लभ है। यही कारण है कि आज सभी स्तरों पर इस महाकाव्य की व्यापक परिभाषाओं की आवश्यकता हम सब को है। अन्यथा श्रीमद्भगवद्गीता जैसे अमृतमय ग्रन्थ को किसी भी प्रकार की व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता, जीव और आत्मा के वार्तालाप की पुस्तक है। जहां बुद्धि अर्जुन, आत्मा श्रीकृष्ण से, इस शरीर रूपी रथ पर, मायाओं के महा–समर में वार्तालाप कर रहा है। जिन शब्दों को अन्तर्यामी, घट-घट वासी, भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट कर रहे हों। उन शब्दों को और अधिक व्याख्या की आवश्यकता ही क्या है? परन्तु काल भेद ने अधिक व्याख्याओं की आवश्यकता को जरूरी बना दिया है।

घड़ा तभी तृप्त होता है जब मुँह तक भर जाय। जो ज्ञान और विज्ञान से पूरी तरह भर चुका है, ऐसा तृप्त हो गया व्यक्ति ही मन इन्द्रियों तथा विषयों से उपराम होकर तथा सभी प्रकार की इन्द्रियों से तृप्त होकर आत्मा में स्थित हो सकता है। तृप्त की पूर्णावस्था का नाम मूढ़ भाव है तथा अतृप्ति, अज्ञानावस्था है। अज्ञानी सदा अतृप्त रहता है।

पूर्ण तृप्त ही योग में स्थित होता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥६॥

(सुहृद) स्वार्थरहित सबका हित करने वाला, (अरि) बैरी, (उदासीन) पक्षपातरहित, (मध्यस्थ) दोनों ओर की भलाई चाहने वाला (द्वेष्य) द्वेषी (बन्धुषु) बन्धुगणों में, (साधुषु) धर्मात्माओं में (च) और, (पापेषु) पापियों में (अपि) भी (समबुद्धिः)समान भाव वाला है। (विशिष्यते) अति श्रेष्ठ है।

जो व्यक्ति सुहृद मित्र, बैरी, उदासीन अर्थात् पक्षपात रहित, मध्यस्थ देश करने वालों, बन्धुगणों, धर्मात्माओं और पापियों में भी समभाव को बनाये रखता है, ऐसा पुरूष अतिश्रेष्ठ है।

सत्य रूप में योगी वही है जो हर ओर सम भाव से अपनी ही आत्मा का दर्शन करे। हितैषी, मित्र, वैरी तथा द्वैष चाहने वालों में भेद न करते हुए, परमेश्वर

ही आत्मा होकर सब में विराजते हैं, ऐसा मानता हुआ हर ओर आत्म तत्व को ही ग्रहण करे, तभी वह योग युक्त होने के योग्य होता है। धर्मात्मा और पापी में भी जो अपने ही आराध्य का दर्शन करे, उसके लिए योग में स्थित होना सहज सम्भव है। ऐसा पूर्ण परिपक्व मानसिकता वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं।

जो कुछ हम बाह्य जगत में करते हैं, उसे नाटक का पूर्वाभ्यास ही जानना चाहिये। अन्तरजगत में मंच लगा हुआ है। पात्र जिस अभिनय का पूर्वाभ्यास करता है, मंच पर उसी का तो सफल अभिनय करेगा। बाह्य जगत में जो कुछ भी हम इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क में ग्रहण करते हैं समाधिस्थ अवस्था में वे ग्रहण किये हुए विचार ही मूर्तिमान होने लगते हैं। जिसने खुले नेत्रों से संसार के गुण और दोष देखा है, अपने और पराये देखता है, मित्र और शत्रु देखता है। आँख मूँदते ही यह सारे भाव उसके सामने क्योंकर नृत्य नहीं करेंगे? जगत के भेद को इन्द्रियों के द्वारा हृदयंगम करने वाला व्यक्ति, अपने आराध्य में एकीभाव से किस प्रकार युक्त हो सकता है? भेद जगत के भेद-भाव उसे अन्तरजगत में भी भेदावस्था में रखते हुए योग से विमुख करते रहेगी। यह एक सूक्ष्म पूर्ण, अकाट्य सत्य है। जिसे श्री भगवान, अर्जुन को स्पष्ट कर रहे हैं। भेद का विलोम अभेद है। भेद का पर्यायवाची, अभेद कदापि नहीं हो सकता। अभेद ब्रह्म से युक्त होने के लिए मन, इन्द्रियों और विषयों को भेद-भाव से दूर रखते हुए, सभी समय, अभेद ब्रह्म में स्थित होते हुए जीना ही योग का मार्ग है।

जब तक जीव वाह्य जगत से इच्छा रहित नहीं होता तथा संदेह रहित रूप से सचराचर मात्र में ब्रह्म भाव को स्थिर नहीं करता, तब तक गुण-दोष तथा अपने-पराये विचारों के संचय की वृत्ति उसके मस्तिष्क से नहीं जाती है।

इसीलिए जो हित चाहने वाले, मित्र तथा बैरी में, उदासीन, मध्यस्थ में, द्वेष करने वालों में तथा अपने और पराये में, धर्मात्मा और पापियों में भी अभेद होकर एक ब्रह्म को ही ग्रहण करता है वही सत्य रूप में अतिश्रेष्ठ है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचितात्मा निराशीर परिग्रहः ॥१०॥

(यताचितात्मा) जिसका मन और इन्द्रियों सहित शरीर जीता हुआ है (निराशीः) संग्रहरहित (एकाकी) अकेला हो (रहित) एकान्त स्थान में (स्थितः)

स्थित हुआ (सततम्) निरन्तर (आत्मानम्) आत्मा को (युज्जीत) परमेश्वर के ध्यान में लगावे।

सत्य रूप में योगी के लिए उचित है कि मन इन्द्रियों सहित शरीर को वासनाओं रहित, संग्रह रहित करता हुआ, एकान्त स्थान में स्थित हुआ, अपनी ही अन्तरात्मा से ध्यानस्थ होकर योग करे। योग के मार्ग को भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट कर रहे हैं। योग शब्द की व्याख्या पूर्व में ही स्पष्ट कर चुके हैं। योग शब्द का अर्थ है, जीव रूपी बुद्धि का आत्मा रूपी परमेश्वर से मिलन। योग के लिए योगी को एकान्त स्थान में स्थित होता हुआ मन इन्द्रियों तथा विचारों को वासनाओं तथा संग्रह से रहित करते हुए अर्थात् वाह्य जगत के विचारों से पूर्णतः विरक्त एवं चिन्तन मुक्त करते हुए, चिन्तन की सम्पूर्ण धाराओं को आत्मा में पूर्ण जागरूक एवं स्थित करे।

योगी को, उपरोक्त श्लोक को स्पष्ट करते समय हमें अपने मन में यह भी स्पष्ट कर लेना चाहिए कि योगी शब्द का अर्थ जीव और आत्मा का अंतिम मिलन है। आधुनिक कुकुट-आसन, मयूरासन आदि नाना प्रकार की कसरतें योग की व्याख्या में नहीं आती हैं। योग के नाम पर प्रातःकाल टेलीवीजन में जो दिखाया जाता है उसे योग का गन्दा, भद्दा मजाक ही कहा जायेगा। शारीरिक व्यायामों को ही हम मात्र योग कहेंगें, तो सरकस का जोकर स्वयं को योगेश्वर कहने लगेगा। गांव का नट जो रस्सियों पर नाचता है। वह साक्षात् नारायण हो जायेगा। सरल, सहज सीधे शब्दों को भी भ्रमित मति के लोगों ने किस प्रकार कुटिलता पूर्वक, अर्थ बिगाड़ कर प्रस्तुत करते हैं इसका जीवन्त उदाहरण टेलीवीजन पर प्रातःकाल दिखाया जाने वाला योग है तथा योग के नाम पर नाना प्रकार की मनोवैज्ञानिक धोखा-धड़ी तथा ठगी करते हुए, आधुनिक सम्प्रदाय और गुरूडम तथा योगाश्रम खुल रहे हैं।

योग को भ्रमित करने के लिए एक नये शून्यवाद ने भी जन्म लिया है जो अत्यअधिक भ्रामक है। शून्य का अर्थ विचार की शून्यता से नहीं है। वरन् वाह्य

विचारों से संचय रहित होकर तथा विरक्त होकर, आत्मस्थ हो पूर्ण एवं परम चैतन्यावस्था को प्राप्त होना है जिस प्रकार बालक जब तक बाहर के खेलों से स्वयं को शून्य नहीं करता है तब तक वह मन लगा कर पाठ्य पुस्तक का अध्ययन नहीं कर सकता है। खेल में लगा मन उसकी पढाई में उच्चाटन करता ही रहेगा तथा पाठ्यक्रम उसकी समझ में न आवेगा। ठीक उसी प्रकार वाह्य जगत से विकार रहित तथा संचय रहित होकर स्मृतियों को भी शेष करते हुए, अन्तरजगत में पूर्ण एवं परिपक्व चैतन्यावस्था को प्राप्त कर, ब्रह्म ज्ञान का वरण करना ही योग की उपलब्धि है। तथाकथित शून्यावस्था के चक्कर में समाज का जो बहुत बड़ा अंग नशीले द्रव्यों में स्वयं को भटका चुका है तथा यह रोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है धर्म सभी प्रकार के सांसारिक नशों का अवरोध है। धर्म की राह में एक ही जागृत नशा है। आराध्य के रूप की छवि का नशा। शेष सभी प्रकार के सांसारिक नशों का अवरोध ही योग है।

जीव की दसों इन्द्रियां बर्हिमुखी हैं। योग की कोई भी धारा इन्द्रियों का माध्यम लेकर नहीं चलती हैं। इन्द्रियों का अवरोध करना, इन्द्रियों से विमुख होकर आत्मस्थ होना ही योग है। योग की राह में इन्द्रियों का प्रयोग कदापि नहीं होता है। योगी के लिए योग स्थित होने के लिए अपने विचारों को, इन्द्रियों से, अलग करना पड़ता है त्राटक आदि योग-मार्ग का अवरोध हैं। उन्हें कदापि भी योग में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अन्तर के नेत्र से आत्मा, रूपी सूर्य पर आत्मस्थ होकर त्राटक करना ही योग है। खुले नेत्रों से ध्यान को बाहर ले जाना, वियोग है! अर्थात् योग से रहित होना है।

श्रीमद्भगवद्गीता में योग का अत्यधिक सरल, सरस, ग्राह्य एवं संदेह रहति मार्ग स्पष्ट करते हुए भगवान श्रीकृष्ण वीरवर अर्जुन को समझा रहे हैं कि योग मूलतः बुद्धि और आत्मा का मिलन है। योग एक विशिष्ट परिपक्व मानसिकता का स्वरूप है। योग मन और इन्द्रियों को वश में करके एकाग्र भाव में, आत्मा में स्थित होना है। योग एक महानतम् मनोवैज्ञानिक अध्यात्मिक उपलब्धि है।

शुद्ध भूमि में तथा शुद्ध वातावरण में कुशा अथवा मृगछाला जैसे आसन का प्रयोग करने की बात गीता में आयी है। कुशा अथवा मृगछाला दोनों ही उष्मा एवं ताप के कुचालक हैं। धरती का ताप शरीर के ताप को स्पर्श नहीं कर पाता तथा शारीरिक ताप का भी इस आसन पर ह्रास नहीं होता है। दोनों ही आसन न तो बहुत नरम और आरामदेय हैं तथा न ही बहुत कड़े ही। इन आसनों पर मनुष्य निश्चिन्त होकर बिना किसी आलस्य के लम्बे समय तक बैठ सकता है। योग के लिए अत्यधिक आरामदेय तथा असुविधाजनक दोनों ही प्रकार के आसन अग्राह्य हैं। दोनों ही मन को एकाग्र करने में बाधक हो सकते हैं। कुशा अथवा मृगछाला से यही तात्पर्य है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

(शचौ) शुद्ध, (देशे) भूमि में, (चैलाजिनकुशोत्तरम्) कुशा मृगछाला और वस्त्र हैं उपरोपरि जिसके ऐसे, (आत्मनः) अपने, (आसनम्) आसन को, (न) न, (अत्युच्छितम्) अति ऊँचा, (अतिनीचम्) अति नीचा, (स्थिरम्) स्थिर, (प्रतिष्ठाप्य) स्थापना करके।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युज्जयाद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

(तत्र) उस, (आसने) आसन पर, (उपविश्य) बैठकर, (मनः) मनको, (एकाग्रं) एकाग्र, (कृत्वा) करके, (चितेन्द्रियक्रियः) चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किया हुआ, (आत्मविशुद्धये) अन्तःकरण की शुद्धि के लिए, (योगम्) योग का, (युज्जयात्) अभ्यास करे।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशाचनवलोकयन् ॥१३॥

(कायशिरोग्रीवम्) काया शिर और ग्रीवा को, (अचलम्) अचल (धारयन्) धारण किये हुए, (स्थिरः) दृढ़ होकर, (स्वम्) अपने, (समम्) समान, (च) और, (नासिकाग्रम्) नासिका के अग्रभाग को, (संप्रेक्ष्य) देखकर, (दिशः) अन्य दिशाओं को, (अनवलोकयम्) न देखता हुआ ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रम्हचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

(ब्रह्मचारिव्रते) ब्रम्हचर्य के व्रत में, (स्थितः) स्थित रहता हुआ, (विगतभीः) भयरहित (प्रशान्तात्मा) अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरण वाला (युक्तः) सावधान (मनः) मन को (संयम्य) वश में करके (मच्चितः) मेरे में लगे हुए चित्तवाला (मत्परः) मेरे परायण हुआ, (आसीत) स्थित होवे ।

उपरोक्त श्लोकों से स्पष्ट है कि श्रीमद्‌भगवद्‌गीता बुद्धि और आत्मा के मिलन को ही योग मानती है । मुर्गासन, कुकुटासन, मयूरासन तथा शीर्षासन आदि की चर्चा उपरोक्त श्लोकों में नहीं आयी है । सहज स्वाभाविक अवस्था में ही योग की बात कहीं गयी है । मन, इन्द्रियों तथा विचारों को नियन्त्रण करके, मन को एकाग्र करके तथा चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में करते हुए अन्तःकरण को शुद्धि करके, योग का अभ्यास करें । स्पष्ट है कि मन की एकाग्रता, पवित्रता तथा आत्मा के साथ अद्वैत करना ही योग साधना का परम् लक्ष्य है ।

काया, सिर और ग्रीवा को अचल धारण करते हुए दृढ़ होकर अपने अन्तःकरण में ध्यानस्थ होता हुआ, पलको को नासिका के अग्र भाग की ओर झुकाता हुआ, अन्तं-हृदय में आराध्य का ध्यान करें । ग्रीवा और मेरूदण्ड को सीधा रखने की बात कही गयी है । इसका बहुत बड़ा वैज्ञानिक कारण भी है । मस्तिष्क को उष्मा रहित, संयत तथा स्वस्थ रखने के लिए मेरूदण्ड से एक विशेष प्रकार का जल निरन्तर प्रवाहित होता है । जिस प्रकार किसी मोटरकार में गाड़ी को चलाने के लिए पेट्रोल की जरूरत होती है तथा इंजन को ठण्डा रखने के लिए उसमें मोबिलआयल भरा जाता है । उसी प्रकार पेट्रोल के स्थान पर शरीर में रक्त का प्रवाह, शरीर को गतिमान करता है तथा मेरूदण्ड से निरन्तर प्रवाहित होने वाला रस मस्तिष्क को मोबिलआयल की तरह ठण्डा रखता है । गाड़ी में रेडियेटर होता है जिसके द्वारा शीतल जल निरन्तर

गाड़ी के इंजन को प्रवाहित होकर ठण्डा रखता है। उसी प्रकार शरीर में भी जल तथा श्वास-प्रश्वास की क्रियाओं को समझना चाहिये। सारा शरीर असंख्यों सूक्ष्म छिद्रों के द्वारा निरन्तर वायुमण्डल से वायु को ग्रहण करता है। जब भी योगी ध्यानस्थ हो जाता है, उसकी श्वास और प्रश्वास क्रियाएं स्वतः समान एवं शांत होने लगती हैं। ऐसी अवस्था में रोम कूपों वाले छिद्रों से ही, सम्पूर्ण शरीर से वायु को ग्रहण करने की प्रक्रिया अति तीव्र हो उठती है। जैसे श्वास और प्रश्वास की प्रक्रिया धीमी होने लगती है, उसी अनुपात में सम्पूर्ण शरीर के छिद्रों की श्वास प्रश्वास की प्रक्रिया तीव्र हो उठती है। इसलिए योगी को चाहिए कि जहाँ पर पर वह ध्यान में बैठे, वह स्थान स्वच्छ, निर्मल तथा निरोग वातावरण को लिए हुए हो। उपरोक्त श्लोकों के पीछे इसी भावना को स्पष्ट रूप से लिया गया है। यदि वातावरण दूषित होगा तो सम्पूर्ण शरीर के द्वारा ग्रहण की हुई वायु के साथ रोगाणुओं का प्रवेश भी शरीर में होने से भयंकर दुष्परिणाम हो सकते हैं। शांत, निरोग एवं स्वस्थ वातावरण योग के लिए परमावश्यक है।

ध्यान में बैठे हुए योगी को सदा स्वस्थ आसन में बैठना चाहिए। जिससे ध्यान की प्रक्रिया में किसी भी प्रकार की बाधा न हो। यदि किसी पीड़ादायक आसन में, टांगों को मोड़कर बैठ भी गये तो उससे ध्यान में, पीड़ा के कारण निरन्तर विघ्न ही होता रहेगा। ऐसी अवस्था में मन पीड़ा में ध्यानस्थ होगा, न कि परमेश्वर में। पीड़ादायक आसन अप्राकृतिक है। उनसे घुटने अथवा हड्डियों के रोग भी हो सकते हैं। शरीर को अप्राकृतिक अवस्था में तोड़ना–मरोड़ना न तो कोई योग है तथा न ही योग की किसी भी प्रकार की उपलब्धि ही। सहज स्वाभाविक आसन तथा सहज ही मुदित मन से अपने आराध्य की सुन्दर मूर्ति में मन को बसाकर रोमांचित होना, अंग-अंग में अपने आराध्य के स्पर्श सुखों को प्राप्त होना, सम्पूर्णता से अपने अन्तर्मन में अपने आराध्य को समर्पित हो जाना, आराध्य के ज्योतिमय स्वरूप को ध्यानस्थ होकर रोम-रोम में बसा लेना तथा स्वयं को खोकर, विचारों को आराध्य बना देना ही योग है।

इसी को उपरोक्त श्लोकों में स्पष्ट किया गया है। ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहता हुआ अर्थात आत्मस्थ होकर, भय रहित तथा इच्छा के भटकाव से रहित, अच्छी प्रकार अपने अन्तःकरण को शान्ति एवं आराध्य के प्रति समर्पित होकर मन को वश में करें। आत्मा के प्रति समर्पित एवं स्थित हों।

श्रीमद्भगवद्गीता में आराध्य के इस स्वरूप को ग्रहण करने की बात की गई है । आधुनिक मतमतान्तरों में विचारों को शून्य करने की बात कही गयी है । शून्य हो गये विचार, जीव एवं उसके आराध्य, दोनों के ही अस्तित्व को खो बैठते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता शून्य में जाने की बात नहीं करती है । कारण ? इसलिए कि जीव वाह्यजगत से अनासक्त और विरक्त हो, तभी वह अन्तर्जगत में आत्मा के प्रति आसक्त हो सकता है । विचारों को एकाग्र कर एवं सावधान होकर अपने अन्तर्जगत में आराध्य के सम्मुख बैठता हुआ ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करें । जीव की अवस्था एक छात्र की भांति है जिसे अन्तर्मुखी होकर शरीर रूपी पाठ्यशाला में आराध्य रूपी गुरू के द्वारा ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होना है, न कि शून्यावस्था को प्राप्त होकर छात्र के उद्देश्यों की निर्मम हत्या करना है ।

पाश्चात्य जगत में इसी शून्य को लेकर गम्भीर दुष्परिणाम हुए हैं । शून्य समाधि करने वाले लोगों के मन, जब निर्मल होकर शून्यावस्था को प्राप्त हो गये तो वे सब वहां की सरकारों के लिए भार बनकर रह गये । विचार शून्यावस्था में ऐसे बहुत से लोग अस्पतालों में पड़े हुए हैं । न तो वे बोलते हैं, न वे सोचते हैं तथा न ही वे स्वयं को जानते हैं । उनकी इन विचार शून्यावस्था के कारण उनकी पत्नियां भी उनको तलाक देकर चली गयी हैं । अस्पतालों के विस्तरों पर ही पड़े रहकर वे हगते और मूतते हैं । नर्सें उनको खाना खिला जाती हैं । सभी प्रकार के प्रयोग उन पर हो चुके हैं परन्तु अब उनके विचारों का लौटना सम्भव नहीं है । कोई भी गलत स्वप्रेरणा, योगी के जीवन में भयंकर दुष्परिणाम ला सकती है । इसके ज्वलंत उदाहरण पाश्चात्य जगत में बहुतायत से देखने में आ रहे हैं ।

जीवन एक पाठ्यशाला है । जीव एक छात्र है । अन्तर्मुखी होकर, सावधान रहते हुए अमृतमय ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करें, उसी ज्ञान के द्वारा ब्रह्म से अद्वैत करना ही योग है । वाह्यजगत सेविरक्त हुए बिना अन्तर्जगत में निश्चिन्त होकर बैठना सम्भव नहीं है । यह योगी की सबसे बड़ी जरूरत है । इसीलिए श्रीमद्भगवद्गीता विरक्त, अनासक्त तथा निर्मोही होने की बात तो करती है परन्तु शून्य में स्थित होने की चर्चा यहां पर नहीं है ।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। गीता ६/१५

(एवम्) इस प्रकार (आत्मानम्) आत्मा को (सदा) निरन्तर (यज्जन्) परमेश्वर के स्वरूप में लगाता हुआ (नियतमानसः) स्वाधीन मन वाला (योगी) योगी (मत्संस्थाम्) मेरे में स्थितिरूप (निर्वाणपरमाम्) परमानन्द पराकाष्ठावाली (शान्तिम्) शान्ति को (अधिगच्छति) प्राप्त होता है ।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।। गीता ६/१६

(अर्जुन) हे अर्जुन (तु) तथा (अति) बहुत (अश्वतः) खानेवाला (अस्ति) सिद्ध होता है (च) और (एकान्तम्) बिलकुल (आश्वतः) न खाने वाले का (च) तथा (स्वप्नशीलस्य) शयन करने के स्वाभाव वाले का (जाग्रतः) अत्यन्त जागने वाले का (एव) ही

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ।। गीता ६/१७

(दुःखहा) दुःखों का नाश करने वाला (योगः) योग (युक्ताहारविहारस्य) यथोयोग्य आहार और विहार करने वाले का (कर्मसु) कर्मों में (युक्तचेष्टस्य) यथा योग चेष्टा करने बाले का (युक्तस्वप्नावबोधस्य) यथायोग्य शयन करने तथा जागने वाले का (भवति) होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यों युक्त इत्युच्यते तदा ।। गीता ६/१८

(विनियतम्) अत्यन्त वश में किया हुआ (चित्तम्) चित्त (यदा) जिस काल में (आत्मनि) परमात्मा में (एव) ही (अवतिष्ठते) भली प्रकार स्थित हो जाता है (तदा) उस काल में (सर्वकामेभ्यः) संपूर्ण कामनाओं से (निःस्पृहः) स्पृहारहित हुआ पुरुष (युक्तः) योग युक्त (इति) ऐसा (उच्यते) कहा जाता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण, वीरवर अर्जुन को योग के रहस्य स्पष्ट कर रहे हैं । जीवन के महाभारत को जीतने के लिए जीव रूपी अर्जुन को भी, इस शरीर रूपी रथ पर, योग के सत्य ज्ञान को पाकर मायाओं के संग्राम को जीतते हुए, आत्मा से अद्वैत करना अर्थात योग करना ही मनुष्य जीवन की मात्र उपलब्धि है ।

मिलना है जब आत्मा से, तो अपने आराध्य को आत्मा में स्थित करते हुए, निरन्तर उसी के ध्यान में ध्यानस्थ रहते हुए, मन को आत्मा के आधीन करते हुए, योगी भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप में निरन्तर स्थित होता हुआ, परमानन्द एवं अमर शान्ति को प्राप्त हो। यही योग का सत्य स्वरूप है। आत्मस्थ होकर जीना ही सच्चे योग की राह है। योगी का आत्म स्थित जीवन ही, योगी का जीवन है। प्रत्येक क्षण आराध्य की सुन्दर भावना मूर्ति का अन्तर में दर्शन करता हुआ, मोहक छवि तथा अमर शान्ति को देने वाली ज्योतियों का आभास लेता हुआ, प्रति क्षण रोम-रोम में ईश्वरकी पुलकित करने वाली छवि का भावना स्पर्श सुख लेते हुए, रोम-रोम में गोविन्द नाम बसाते हुए, अमर सुख को प्राप्त हो।

मन, विचारों के निरन्तर विचरण का स्थल है। मन, प्रकाश की गति से भी तीव्रतम् भागने वाला चंचल अश्व है। मन को कहीं न कहीं लगना है। जब भी मन मोहासक्ति में लगता है; भय, चिन्ता, लोभ, मोह तथा भटकाव में ले जाकर मनुष्य को निरन्तर पीड़ायें प्रदान करता है। विचार ही जीव का स्वरूप हैं। मन, विचारों का प्राँगण है। विचार ही सुख और दुख के जनक हैं। जीवन के क्षण फिसल रहे हैं। किसी क्षण को भी जीव रोक नहीं सकता है। मन प्राँगण में खेलते विचार ही उन क्षणों को भोगते हैं तथा अपने जैसा ही स्वाद जीव को देते हैं। जब भी मन के आँगन में भौतिक विषय-वासनाओं के विचार खेल रहे होते हैं, जीवन का प्रत्येक क्षण पीड़ायें ही पीड़ायें दिये जाता है। काश! विचार गोविन्द के स्वरूप में खो जायें! उनकी रूप छवि, विचारों में झिल-मिल मुस्कराती रहे! मन के विचारों को अनुभूतियों की अंगुलियों से, उनके मोहक स्पर्श के सुख, शरीर के रोम-रोम में बसाता रहे। मन विचार और शरीर, आराध्य के आभास से प्रत्येक क्षण पुलकित होता रहे। अष्ट गन्ध की सुगन्ध, कल्पना के जगत में, उभर कर साक्षात् हो जाए। कल्पना से यथार्थ बन जाए। अष्ट गन्ध की सुगन्ध का आभास सम्पूर्ण वातावरण में छा जाये। आराध्य के सामीप्य का सुखद भाव सदा बना रहे। यही योग की राह है।

भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! न तो बहुत खाने वाले का योग सिद्ध होता है तथा न ही भूखे रहने वाले का योग सिद्ध होता है। यह योग न तो अत्यधिक शयन करने वाले का होता है तथा न ही अधिक जागने वाले का। इस योग का सम्बन्ध न तो एकान्त से है और न ही शोर से।

किसी भी अस्वाभाविक अवस्था का नाम योग नहीं है। सहज स्वाभाविक अवस्था में आत्मस्थ होकर जीना, प्रत्येक क्षण अपने आराध्य में बस कर जीना ही योग है। बाजीगर और नटों की राह, योग की राह नहीं है। वह तो मात्र किसी भी व्यवसायिक उद्देश्य से भोले लोगों को रिझा कर भटकाना है। योग है सहज स्वाभाविक प्राकृतिक अवस्था में, पूर्ण तृप्त एवं आत्मस्थ होकर, प्रति क्षण अपने आराध्य का स्पर्श सुख को लेते हुए जीना। स्वाभाविक निद्रा तथा स्वाभाविक स्वस्थ भोजन को लेते हुए, शरीर और इन्द्रियों का भी स्वाभाविक अवस्था में ही प्रयोग करते हुए एवं सम्पूर्ण कर्मों को आत्मस्थ होकर सहज स्वाभाविक ग्रहण करते हुए, प्राकृतिक स्वाभाविक अवस्थाओं में आत्मस्थ होकर जीने वाले का योग सिद्धहोता है।

शरीर रूपी रथ पर जीव महारथी अर्जुन है। १० इन्द्रियां १० घोड़े हैं तथा मायाओं का महासमर महाभारत है। यज्ञोपवीत बुद्धि रूपी अर्जुन का गांडीव है। श्रीमद्भगवद्गीता की इस अद्भुद अनुपम कल्पना को सामने रखकर ही श्रीमद्-भगवद्गीता का रहस्य पाना सम्भव है।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि शरीर को हमने नहीं बनाया है। यह प्रभु और प्रकृति की बनाई हुई पवित्र धरोहर है। जीव होकर हम मात्र एक निमित्त हैं, ट्रस्टी हैं। पुजारी का धर्म है कि मन्दिर को पवित्र, स्वरूप तथा सुखद और सुन्दर बना कर रखे। योगी का भी धर्म है कि प्रकृति की इस धरोहर को सहज प्राकृतिक अवस्थाओं नें सुन्दर, सुखद, पुष्ठ, स्वस्थ और मनोहारी बना कर रखे। अप्राकृतिक क्रियाओं तथा अवस्थाओं के द्वारा इस शरीर का, विनाश करना योग का मार्ग कदापि नहीं हो सकता है। इसी तत्व को भगवान गोविन्द अपने अतिशय प्रिय शिष्य अर्जुन को स्पष्ट करके बतला रहे हैं। जीव मात्र अर्जुन है। हम सब हैं अर्जुन ! हमारी अन्तरात्मा ही श्रीकृष्ण है। शरीर वह पवित्र रथ है जिसे स्वयं आत्मा होकर नारायण चला रहे हैं। जीव रूपी अर्जुन को सौभाग्य लगा है कि आत्मा रूपी कृष्ण उसके शरीर रूपी रथ का सारथि बना है। महारथी, पहले रथ को प्रणाम करता हैं तब रथारूढ़ होता है। सारथि, पहले रथ को और घोड़ों को प्रणाम करता है तब रथारूढ़ होकर लगाम संभालता है। अपने शरीर कों एक पवित्र धरोहर के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये। सच्चा योगी अपने शरीर के साथ किसी भी प्रकार का अप्राकृतिक व्यवहार नहीं करता है। आप कल्पना करें, एक छोटा सा शिशु है।

शिशु अपनी माता के पास ही स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त होता है। माता से विलग कर दिया गया शिशु, रोने लगता है तथा माता को भी दुख प्राप्त होता है। हमारा शरीर, माता प्रकृति का नन्हा दुलारा शिशु है। इस प्राकृतिक अवस्था से अलग कर, माता और शिशु दोनों को पीड़ा देना है। योग मार्ग में योगी को कभी भी सहज स्वाभाविक अवस्थाओं से अलग नहीं होना चाहिये। यही कारण है कि अतीत के युगों में योगीजन प्राकृतिक वनों में ही वास करते थे। वे शरीर को, कृष्ण रूपी अग्नियों में, आत्मस्थ होकर सुखद आभास लेते हुए चलते थे। उनका जीवन नितान्त सहज स्वाभाविक और सरल होता था। योग सम्पूर्ण भौतिक वासनाओं का तथा विचारों का वियोग है। जो वाह्यजगत से वियोगी होगा, वही तो अर्न्तजगत में आत्मस्थ योगी होगा। बाहर से वियोग को प्राप्त होना सम्पूर्ण दुखों और पीड़ाओं को समाप्त करना है। वाह्यजगत से पूर्णतः मुक्त होकर आत्मस्थ जगत में स्वाभाविक अवस्थाओं में सहज भाव से जीते हुए आत्मा में तल्लीन होना ही सच्चा योग है।

ऐसा योग उसी के द्वारा सम्भव है जिसने अपने चित्त को वासनाओं तथा विचारों को, मन को सभी प्रकार से वश में कर आत्मस्थ कर लिया हो। मन को वश में करने का एक ही मार्ग है कि इस चंचल मन को नटखट कन्हैया में रिझा दिया जावे। यह मन अपनी स्वाभाविक अवस्था में कहीं न कहीं तो रीझेगा ही, क्यों न इस सुखद गोविन्द में रिझा दें। मन हमारा हमारे लिए परम् सुख का हेतु हो। मन किसी न किसी विषय में अवश्य लगेगा ही। यह मन की सहज स्वाभाविक अवस्था है। मन की प्राकृतिक अवस्था के अनुरूप ही मन को सुन्दर मोहक गोविन्द की लोलाओं में, गोविन्द की कथाओं में, गोविन्द की मनोहारो छवि में तथा उसके साथ अद्वैत हो, कृष्ण रूपी सागर में खो जाने में, रिझा कर मन को बिठा देना, योगारूढ़ होना है।

योग की प्रक्रिया में ऋग्वेद में पाँच महावाक्यों को कहा गया है। तत्वमसि, तेजोऽस्मि, ऐकोब्रम्ह द्वितीयोनास्ति, अहंब्रम्हास्मि तथा सोहमस्मि। धारणा, ध्यान समाधि यज्ञ और योग ही इन पाँच महावाक्यों के सूक्ष्म अर्थ हैं। सबसे पहले भक्त, धारणा की मूर्ति अपने अन्तरहृदय में स्थापित करता है। यही तत्वमसि है। पुनः मूर्ति और ज्योतियों को अपने रोम-रोम में विराजता है, यह तेजोऽसि है। प्राणी मात्र में गोविन्द ही विराजते हैं, इसी भावना से सम्पूर्ण सचराचर में, जीव मात्र

में, अपने ही आराध्य का दर्शन करता है। इसी भावना से प्राणी मात्र की समर्पित सेवा करता है। इसी अवस्था का नाम 'एकोब्रह्म द्वितीयोनास्ति' है। रोम-रोम में, अंग-अंग में, ध्यान मूर्ति को सजाकर, स्वयं को उसी में समाते चले जाना, यज्ञ करते जाना। जिस प्रकार सांचे में पिघलता हुआ द्रव्य डालकर सांचे के अनुरूप मूर्ति बनायी जाती है। उसी प्रकार मूर्ति रूपी सांचे में स्वयं को ध्यान मार्ग से अंग में अंग बसाते जाना, सर्वांग मूर्ति हो जाना, अहंब्रम्हास्मि है। इस अवस्था में भक्त अंग-अंग में, रोम–रोम में आराध्य की मूर्ति का सर्वांग न्यास करता है। अंगुलियों में अंगुलियाँ हों, बाहों में बाहें हों, रोम में रोम सामाया हो, वक्षस्थल, वक्षस्थल में में खो गया हो। सर्वांग भक्त यज्ञ होकर आराध्य रूपी मूर्ति के सांचे में व्याप्त होकर तद्रूप हो गया है। इस अवस्था का नाम सोहमस्मि है।

भक्ति मार्ग कहें अथवा योग मार्ग, तात्पर्य परमेश्वर से अद्वैत करना ही है। ईश्वर रूपी सांचे से ही हम प्रकट होते हैं। कोई भी माता, अपने शरीर का जब एक अंग नहीं बना सकती तो उसने शिशु को भी कब बनाया ? प्रत्येक शिशु को आत्मा ही ब्रह्मज्वाला के द्वारा अर्थात वसुदेव और देवकी के द्वारा जन्माती है। शिशु, स्वरूप को प्राप्त होता है। पुनः आत्मा रूपी कृष्ण के स्वरूप में स्वयं को सर्वांग यज्ञ कर व्याप्त कर देना ही योग की परमअवस्था है। जिनका मन एकाग्र नहीं, वे कदापि इस अवस्था को प्राप्त नहीं हो सकते हैं। इसीलिए उपरोक्त श्लोकों में सहज, स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त होकर मन को प्रभु में बांध देना ही योग की राह है।

यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता।
योगिनो यताचित्तस्य युज्जतो योगमात्मनः॥ ६/१९

(यथा) जिस प्रकार (निवातस्थः) वायुरहित स्थान में स्थित (इंगते) चलायमान होता है। (सा) वैसी ही (उपमा) उपमा (आत्मनः) परमात्मा के (दीपः) दीपक (न) नहीं (योगम्) ध्यान में लगे हुए (योगिनः) योगी के (यतचित्तस्य) जीते हुए चित्त की (स्मृता) कही गयी है।

यत्रोपरमते चित्तं निरूद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति॥ ६/२०

(यत्र) जिस अवस्था में (योगसेवया) योग के अभ्यास से (निरूद्धम्) निरूद्ध हुआ (चित्तम्) चित्त (उपरमते) उपराम हो जाता है। (च) और (यत्र) जिस

अवस्था में (आत्मना) शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि द्वारा (आत्मानम्) परमात्मा को (पश्यन्) साक्षात् करता हुआ (आत्मनि) सच्चिदानन्दघन परमात्मा में (एव) ही (तुष्यति) संतुष्ट होता है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ६/२१

(अतीन्द्रियम्) इन्द्रियों से अतीत (बुद्धिग्राह्यम्) बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य (यत्) जो (आत्यन्तिकम्) अनन्त (सुखम्) आनन्द है (तत्) उसको (यत्र) जिस अवस्था में (वेत्ति) अनुभव करता है (च) और (स्थितः) स्थित हुआ (अयम्) यह योगी तत्त्वतः (भगवत्स्वरूप से) (नएव) नहीं (चलति) चलायमान होता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरूणापि विचाल्यते ॥ ६/२२

(यम्) परमेश्वर की प्राप्ति रूप, जिस लाभ को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर (ततः) उससे (अधिकर्म) अधिक (अपरम्) दूसरा (लाभम्) लाभ (न) नहीं (मन्यते) मानता है। (च) और (यस्मिन्) भगवत्प्राप्ति रूप, जिस अवस्था में (स्थितः) स्थित हुआ योगी (गुरूणा) बड़े भारी (दुखेन) दुःख से (अपि) भी (न विचाल्यते) चलायमान नहीं होता है।

उपरोक्त श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण परमात्मा में योग कर गये, निश्चल मन की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि प्रभु में स्थित हो गया मन, किसी भी प्रकार चलायमान नहीं होता है। जिसने अपने चित्त को जीत लिया है, दसों इन्द्रियों का निग्रह कर, उसने दस इन्द्रियां रूपी, दस फन वाले कालिया नाग को नथ लिया है, ऐसी अवस्था वाला व्यक्ति, भक्त ही योग से युक्त होता है। जिस प्रकार वायु रहित स्थान में दीपक चलायमान नहीं होता है, उसी प्रकार योग युक्त व्यक्ति को विषय तथा संसार विचलित नहीं कर पाता है।

योग में स्थित हुआ मन प्रभु के ध्यान में सक्षमतः से प्रभु का साक्षात्कार पाता है, तो उसे परम् सन्तोष की प्राप्ति होती है। प्रभु दर्शन एवं सन्तोष को पाने के उपरांत ऐसे मन की अवस्था, अविचलित होती है। फिर वह कभी भी आसक्तियों, वासनाओं तथा अतृप्तियों की ओर नहीं भागता है। बढिया मिठाई खाने के उपरांत कोई भी व्यक्ति, सड़ी हुई गन्दी वस्तु को खाना नहीं चाहेगा। ऐसा करने से पूर्व

में खाई हुई मिठाई का स्वाद भी नष्ट हो जायेगा। उसी प्रकार प्रभु रूप का नशा करने वाला फिर साँसारिकताओं का और विषयों का नशा करने की इच्छा को समाप्त कर देता हैं। जिसने उनके रूप छवि का नशा किया है वह संसार के नशों को प्राप्त नहीं होता है। गांजा, भाँग, तम्बाकू आदि सारे व्यसन, योग के विपरीत है। ईश्वर के मार्ग का अवरोध हैं। इस प्रकार के व्यसन जिस व्यक्ति में होते हैं, वह कदापि योगी और तपस्वी नहीं होता है। वेद मानते हैं कि मनुष्य के नवद्वार एक साथ ही बन्द होते हैं तथा साथ ही खुलते हैं। जब एक द्वार खुलता है, तो नव द्वार खुलते हैं। इससे स्पष्ट है कि एक भी व्यसन को करने वाला व्यक्ति, चाहे उसे समाज में कितना ही बड़ा सम्मान एक योगी और तपस्वी के रूप में पाता हो, वह कदापि योगी और तपस्वी नहीं हो सकता है। प्रभु के रूप रस छवि का नशा करने वाले, दूसरे नशों की ओर जाने की इच्छा को भी मिटा देते हैं। वे गोविन्द में ही स्थिर होते हैं। संसार से भी उनका सम्बन्ध निमित्त मात्र होकर प्रभु की सेवा की राह जाता है। वे कदापि किसी विषय में लिप्त होकर विचलित नहीं होते हैं। सम्पूर्ण साँसारिक कार्यों को करते हुए भी वे संसार से अलग रहते हैं। जिस प्रकार आत्मा शरीर को भोजन, रक्त, शक्ति, ऊर्जा तथा सामर्थ्य प्रदान करता हुआ भी, जीव के गुण-दोषों तथा पाप आदि में लिप्त नहीं होता है। यही अवस्था आत्मस्थ योगी की होती है। सब कुछ करते हुए भी, उसमें गोविन्द का भाव तथा निमित्त सेवा का भाव रहता है। सब के प्रति सर्मपित सेवा करता हुआ भी, वह मात्र इतना ही जानता है, कि वह ईश्वर के प्रति ही कर रहा है, न कि अमुक-अमुक व्यक्तियों के प्रति।

परमेश्वर की दर्शन–प्राप्ति के लाभ को प्राप्त होकर वह भली प्रकार जानता है कि इससे बड़ा कोई दूसरा लाभ इस सचराचर में नहीं है। वह अपने सुख और दुख, पाप और पुन्य, जय और पराजय, सभी कुछ प्रभु रूपी सागर को सर्मपित कर, सारे दुखों और सुखों से ऊपर उठ जाता है। भारी से भारी दुख भी उसे चलायमान नहीं कर पाते हैं। शरीर सेवा के लिए है। मुझे संसार की सेवा करनी है। सेवा करते समय भी मैं तो निमित्त मात्र हूँ। आत्मा से रहित जीव कोई सेवा नहीं कर पाता है। मेरे द्वारा की गयी सेवा भी आत्मस्वरूप गोविन्द के द्वारा ही सम्भव हुई है। सेवा तो गोविन्द ही कर रहे हैं, मैं तो निमित्त मात्र हूँ। जिनके प्रति मेरे द्वारा सेवा हो रही है उनमें भी आत्मा होकर गोविन्द विराजते हैं। आत्मस्वरूप गोविन्द

ही सेवा को ग्रहण करते हैं। इसलिए मैं गोविन्द की सेवा कर रहा हूँ। गोविन्द का ही निमित्त होकर तथा गोविन्द ही की सामर्थ्य से।

ईश्वर को स्वीकार कर गये मन की यही अवस्था होती हैं। उनके रूप सौंदर्य का समाधि में दर्शन पाने के उपरांत वहाँ और किसी अन्य रूप छवि की कामना नहीं करता है। योग का अर्थ है परमेश्वर से मिलन। प्रभु में मिल गया मन प्रभु ही हो जाता है। इसी अवस्था का नाम है "ईश्वर–दर्शन"। इस दर्शन के उपरांत भक्त सदा-सदा के लिए सभी प्रकार के दुखों से ऊपर उठ जाता है। संसार की सेवा ईश्वरीय भाव से करता हुआ, सबके सुखों की कामना करता है। मृत्यु के प्रवाहों में बिछड़ गये तथाकथित सम्बन्धियों के लिए भी दुखी न होकर, सम भाव रखते हुए विरक्त हो जाता है। मृत्यु को प्राप्त हो गये तथाकथित स्वजन को प्रभु का रूप ही जान कर, उसके भी सुख की कामना करता हुआ, गोविन्द में ही स्थिर रहता हैं। मृत्यु को प्राप्त हो गये जीव की अनायास ऐसी सेवा करता है, जिसकी कल्पना साधारण मनुष्य को नहीं होती है। इसे उदाहरण सहित स्पष्ट करते हैं।

कल्पना करें कि किसी व्यक्ति की अकाल मृत्यु हो गयी है। सारा परिवार दुखी है अपने खो गये बच्चे के लिए तड़प रहा है। ऐसी अवस्था में हम मृत्यु को प्राप्त हो गये जीव को पीड़ा और कष्ट ही तो दे रहे हैं। हम सब जानते हैं कि आत्मा से आत्मा की राह होती है। जब भी किसी व्यक्ति का ध्यान कर, हम दुखी होते हैं तो आत्मा की राह से उसे भी उतनी ही पीड़ा देते हैं। इसीलिए कहते हैं कि संसार पीड़ा है गोविन्द ही सच्चा सुख है। गोविन्द में ध्यानस्थ हो गया जीव, दिवंगत हो गए स्वजन की भी आत्मस्थ होकर, गोविन्द रूप में ध्यान द्वारा सुख की कामना करता है तो वह भटकते हुए जीव को, असीम सुख और आनन्द प्रदान करता है। ईश्वर भक्ति से रहित मनुष्य, पीड़ा और दुखों का घर है। गोविन्द में स्थित हो गया मन ही हमारे जीवन का सुखद अमृत है।

तं विद्यद्ः खसयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ गीता ६/२३

[दुःखसंयोगवियोगम्] दुःख रूप संसार के संयोग से रहित है। [योगसंज्ञितम्] जिसका नाम है योग [तम्] उसको [विद्यात्] जानना चाहिए [सः] वह [योगः] योग [अनिर्विण्णचेतसा] न उकताये हुए चित्त से अर्थात् तत्पर हुए चित्त से [निश्चयेन] निश्चयपूर्वक [योक्तव्यः] करना कर्तव्य है।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानिशेषतः ।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ गीता ६/२४

(संकल्प प्रभवान्) संकल्प से उत्पन्न होने वाली (सर्वान) सम्पूर्ण (कामान्) कामनाओं को (अशेषतः) नि.शेषता से अर्थात् वासना और आसक्ति सहित (त्यक्त्वा) त्यागकर (मनसा) मनके द्वारा (इन्द्रियग्राम) इन्द्रियों के समुदाय को (समन्ततः) सब ओर से (एव) ही (विनियम्य) अच्छी प्रकार वश में करके ।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्धया धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वानाकिंचिदपि चिन्तयेत् । ६/२५

(शनैः-शनैः) क्रम क्रम से अभ्यास करता हुआ [उपरमेत्] उपरामता को प्राप्त होवे [धृति गृहीतया बुद्धया] धैर्य युक्त बुद्धि द्वारा [मनः] मन को [आत्मसंस्थम्] परमात्मा में स्थित [कृत्वा] करके [किंचित्] कुछ [अपि] भी [नचिन्तयेत्] चिन्तन न करे ।

यतो यतो निश्चरिति मनचंचलस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ ६/२६

(एतत्) यह (अस्थिरम्) स्थिर न रहने वाला (चंचलम्) चंचल (यतः-यतः) जिस-जिस कारण से (निश्चरति) सांसारिक पदार्थों में विचरता है (ततः) उस(स्ततो)उससे (नियम्य) रोक कर (आत्मनि) परमात्मा में (एव) ही (वशम्) निरोध (नयेत्) करे ।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रम्हभूतमकल्मषम् ॥ ६/२७

(हि) क्योंकि (प्रशान्तमनसम्) जिनका मन अच्छी प्रकार शान्त है (अकल्मषम्) जो पाप से रहित है (शान्तरजसम्) जिसका रजोगुण शान्त हो गया है ऐसे (एनम्) इस (ब्रम्हभूतम्) घन ब्रम्ह के साथ एकीभाव हुए (योगिनम्) योगी को (उत्तमम्) अति उत्तन (सुखम्) आनन्द (उपैति) प्राप्त होता है ।

युँजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रम्हसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ ६/२८

[विगतकल्मषः] पाप रहित [योगी] योगी [एवम्] इस प्रकार [सदा] निरन्तर (आत्मानम्) आत्मा को (युञ्जन्) लगाता हुआ (सुखेन) सुखपूर्वक (ब्रम्हसं-स्पर्शम्) परब्रम्ह परमात्मा की प्राप्ति रूप (अत्यन्तम्) अनन्त (सुखम्) आनन्द को (अश्नुते) अनुभव करता है।

ईश्वर की राह जाने वाला, संकल्प और विकल्प से पूर्णतयः मुक्त हो जाता है। ईश्वर को समर्पित होने के लिए, ईश्वर ही संकल्प है तथा ईश्वर ही विकल्प है। किसी प्रकार की भी वासनाएं और आसक्तियां साधना के मार्ग में दीवार बन जाती हैं तथा प्रभु भक्त अपने अराध्य से हटकर भौतिकताओं का भक्त हो जाता है।

नारद शब्द का अर्थ है, एक केन्द्र के चारों ओर वृत्ताकार नाचने वाला। आत्मा के चहुं ओर आवागमन के वृत में नाचने वाला जीव मात्र, नारद है। श्री राम कथा का आरम्भ देवऋषि नारद ही है। नारद जी नाटक के द्वारा अर्थात लीला के द्वारा, जीव को उसके दो चेहरे दिखला रहे हैं। जब नारद की भक्ति वासनाओं, आसक्तियों, संकल्प तथा विकल्प से रहित हो तो नारद नारायण का भक्त है। यहां पर नारद की भक्ति ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण है। ज्ञानी नारद जानता है कि ज्ञान के चरम बिन्दु "हरि-स्मरण" है। इसलिए वीणापाणि प्रति क्षण हरि नाम स्मरण करता है। वैराग्य से परिपूर्ण नारद ब्रम्हचारी है। नारायण के अतिरिक्त उसका न तो कोई स्वजन है, न ही कोई सम्बन्धी है तथा न ही कोइ संसार।

यही नारद मृत्यु लोक में आता है, विश्वमोहिनी पर आसक्त हो उठता है। विश्वमोहिनी में फंसे नारद का ज्ञान और वैराग्य मोह और वासनाओं के दल-दल में फंस जाता है। विश्व शब्द का अर्थ है संसार तथा मोहिनी शब्द का अर्थ है आसक्तियां और वासनाएँ। यहां पर नारद गाता तो नारायण-नारायण है परन्तु उसका अन्तर्मन सत्य रूप में इन्हीं शब्दों को दोहराता है 'हाय विश्व मोहिनी, मेरी प्यारी विश्वमोहिनी'! जब नारद की भक्ति ज्ञान और वैराग्य से छूट जाती है तो नारद विश्वमोहिनी का दास बन जाता है। जब नारद की भक्ति ज्ञान और वैराग्य से परिपूर्ण हो तो वह नारायण का समर्पित अनन्य भक्त है। उपरोक्त लीला में नारद दो ही अवस्थाओं को दिखलाता है। सत्य रूप में तीसरी कोई अवस्था ही नहीं है। भक्त को हरि भक्ति का पवित्र गगन मिलेगा, अन्यथा विषयान्ध सांसारिकता

का मोह और पतन मिलेगा। उपरोक्त श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण वीरवर अर्जुन को इस अमृतमय सत्य को सरल करके दिखला रहें हैं। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अर्जुन और कृष्ण की यह जोड़ी सम्पूर्ण सचराचर में भक्त मात्र की अन्तर कथा है। जहां जीव रूप, बुद्धि रूप, हम सब अर्जुन हैं। घट-घट वासी आत्मा ही अतिशय प्रिय, पूज्य एवं वन्दनीय भगवान श्रीकृष्ण हैं। दस इन्द्रियां ही दस घोड़े हैं। यज्ञोपवीत ही गाण्डीव है। शरीर रूपी रथ पर आरूढ़ यह जीव, जीवन के महा समर को प्रतिक्षण लड़ा रहा है।

परमेश्वर को पूर्णतः समर्पित होकर, स्वयं को निमित्त मात्र जानते हुए, प्रत्येक कार्य को ईश्वर में समर्पित करते हुए, करना ही योग का मार्ग है। ऐसा करने के लिए इन्द्रियों के समुदाय को प्रत्येक ओर से वश में करना जरूरी है। इन्द्रियों का चालक मन है। मन जीव को आसक्तियों की ओर खींचता है। यदि आसक्तियों और इच्छाओं को ही मिटा दिया जाय, तो मन आसक्तियों की ओर स्वतः नहीं खिचेंगा। निरन्तर प्रयास करते हुए मन और इन्द्रियों से प्रभु पर ही रीझने का प्रयास करते हुए, भक्त, मन और इन्द्रियों पर पूर्ण रूपेण नियन्त्रण पा सकता है इसके लिए निरन्तर प्रयास करते रहना होगा। यह कदापि नहीं हो सकता है कि सुबह और शाम मन्दिर में बैठकर घंटी बजा ली तथा सारा दिन जीवन व्यापार में इन्द्रियों द्वारा लोलुपताओं, अतृप्तियों और वासनाओं का संसार खेलते रहे। इस अवस्था को कोई भी अवस्था नहीं कहा जायेगा। धरती और आकाश के बीच में कोई भी ऐसा स्थान नहीं है जहां व्यक्ति अपने आप को निरन्तर स्थापित कर सके। कोई भी बीच में घर नहीं बना सकता है। उसी प्रकार थोड़ी देर आसमान पर तथा पुनः वासनाओं की धरती पर विचरण करने वाला, स्वयं को धोखा दे रहा है कि वह ईश्वर की भक्ति कर रहा है। भक्त सब कुछ ईश्वर पर न्योछावर करता है। सांसारिक ईश्वर से रोया-

गिड़गिड़ाया और सांसारिकता की ही मांग किया करता है। जो ईश्वर से संसार मांग रहा है, उसके लिए महत्वपूर्ण संसार है न कि ईश्वर।

क्रम -क्रम से अभ्यास करते हुए उपरामता को प्राप्त होते हुए बुद्धि को धैर्य से युक्त करता हुआ सभी प्रकार से मन को अपने आराध्य की मोहक छवि में स्थित कर, प्रभु में स्थित हो तथा स्वयं को सभी प्रकार के चिन्तन से मुक्त करे। एकाग्र मन तथा सांसारिकताओं से सम्पूर्ण एकत्व रखते हुए गोविन्द में स्थित हो। मन की अस्थिरता को परमेश्वर में शान्त करता हुआ तमोगुण एवं रजोगुणों को शान्त करके आत्मा में, आत्मा से ही योग करता हुआ प्रभु रूपी परमानन्द का निरन्तर सुख भोग करे। किसी भी क्षण को ईश्वर से रहित न होने दे। भक्त उसी को कहते हैं जो कभी भी अपने आराध्य से 'विभक्त' न हो। योग शब्द का अर्थ है मिलन। ऐसा मिले कि फिर कभी बिछुड़ने के क्षण न हो। मिटा के अपने अस्तित्व को ईश्वर रूपी सागर में समा जाये। एकत्व को प्राप्त हो। योग की पूर्ण अवस्था का अमर सुख पायें।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ ६/२६

(योगयुक्तात्मा) सर्वव्यापी अनन्त चेतन में एकी भाव से स्थिति रूप योग से युक्त हुए आत्मा वाला (सर्वत्र) सबमें (समदर्शनः) समभाव से देखने वाला योगी (आत्मानम्) आत्मा को (सर्वभूतस्थम्) बर्फ में जल के सदृश व्यापक (च) और (सर्वभूतानि) संपूर्ण भुतों को (आत्मनि) आत्मा में (ईक्षते) देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयिपश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ६/३०

(यः) जो पुरुष (सर्वत्र) संपूर्ण भूतों में (माम) सब के आत्म रूप मुझ वासुदेव को ही (पश्यति) देखता है (च) और (सर्वम्) संपूर्ण भूतों को (मयि) मुझ वासुदेव के अन्तर्गत (पश्यति) देखता है (तस्य) उसके लिये (अहम्) मैं (न प्रणश्यति) अदृश्य नहीं होता हूँ (च) और (सः) वह (मे) मेरे लिए (न प्रणश्याति) अदृश्य नहीं होता है।

सर्वभूतस्थित यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। ६/३१

[यः] जो पुरुष [एकत्वम्] एकीभाव में [आस्थितः] स्थित हुआ [सर्वभूत-स्थितम्] संपूर्ण भूतों में आत्मरूप से स्थित [माम्] मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव को [भजति] भजता है [सः] वह [योगी] योगी [सर्वथा] सब प्रकार से [वर्तमान] बर्तता हुआ [अपि] भी [मयि] मेरे में ही [वर्तते] बर्तता है।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ६/३२

[अर्जुन] हे अर्जुन [आत्मौपम्येन] अपनी सादृश्यता से (सर्वत्र) संपूर्ण भूतों में [समम्] सम [पश्यति] देखता है [वा] और [सुखम्] सुख [यः] जो योगी [यदि वा] अथवा [दुखःम] दुःख को [सः] वह [योगी] योगी [परमः] परम श्रष्ठ [मतः] माना गया।

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चन्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।। ६/३३

[मधुसूदन] हे मधुसूदन [अयम्] यह [योगः] ध्यान योग [त्वया] समत्व भाव से [प्रोक्तः] कहा है (एतस्य) इसकी (अहम्) मैं (यः) जो (चन्चलत्वात्) चन्चल होने से (स्थिराम) बहुत काल तक ठहरने वाली (स्थितिम्) स्थिति को (न) नहीं (पश्यामि) देखता हूँ।

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवदृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरित सुदुष्करम् ॥ ६/३४

[हि] क्योंकि [कृष्ण] हे कृष्ण [मनः] मन [चंचलम्] बड़ा चंचल (प्रमाथि] प्रमथन स्वभाव वाला है। [दृढम्] बड़ा दृढ़ [बलवत्] बलवान् है [अतः] इसलिये [तस्य] उसको [निग्रहम्] वश में करना [अहम्] मैं (वायोः) वायु की [इव] भांति [सुदुष्करम्]अति दुष्कर (मन्ये) मानता हूँ।

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ६/३५

(महाबाहो) हे महाबाहो (असंशयम्) निः सन्देह (मनः) मन (चंचलम्) चंचल (दुर्निग्रहम्) वश में होने वाला है (तु) परन्तु (कौन्तेय) हे कुन्ती पुत्र अर्जुन (अभ्याससेन) अभ्यास अर्थात् स्थिति के लिये बारम्बार यत्न करने से (च) और (वैराग्येण) बेराग से (गृह्यते) वश में होता है।

असंयतात्माना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमपायतः ॥ ६/३६

(असंयतात्मना) मन को वश में न करने वाले पुरूष द्वारा (योगः) योग (दुष्प्रापः) दुष्प्राप्य है अर्थात प्राप्त होना कठिन है (तु) और (वष्यात्मना) स्वाधीन मन वाले (यतता) प्रयत्नशील पुरूष द्वारा (उपायतः) साधन करने से (अवाप्तुम्) प्राप्त होना (शक्यः) सहज है (इति) यह (मे) मेरा (मतिः)मत है।

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धि कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ६/३७

(कृष्ण) हे कृष्ण (योगात्) योग से (चलितमानसः) चलायमान हो गया है मन जिसका ऐसा (योगसिद्धम्) योग की सिद्धि को अर्थात भगवत् साक्षात्कारता को (अयतः) शिथिल यत्न वाला (श्रद्धया उपेतः) श्रद्धायुक्त पुरूष (न) प्राप्त होकर (काम) किस (गतिम्) गति को (गच्छति) प्राप्त होता है।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ६/३८

(महाबाहो) हे महाबाहो (कच्चित्) क्या (ब्रम्हण:) भगवत्प्राप्ति के (पथि) मार्ग में (विमूढः) मोहित हुआ (अप्रतिष्ठः) आश्रय रहित पुरूष (छिन्नाभ्रम्) छिन्न–भिन्न बादल की (इव) भांति (उभयविभ्रष्टः) दोनों ओर से अर्थात भगवत् प्राप्ति और सांसारिक भोगों से भ्रष्ट हुआ (न नश्यति) नष्ट तो हो जाता नहीं है।

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ।। ६/४०

(पार्थ) हे पार्थ (तस्य) उस पुरूष का (न) न तो (इह) इस लोक में (न) न (अमु) परलोक में (कल्याणकृत) शुभकार्य करने वाला अर्थात भगवत् अर्थ कर्म करने वाला (एव) ही (विनाशः) नाश [विद्यते] होता है (हि) क्योंकि (तात) हे प्यारे (कश्चित्) कोई भी (दुर्गतिम्) दुर्गति को (न) नहीं (गच्छति) प्राप्त होता है।

प्राप्त पुण्यकृतां लोकानषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ।। ६/४१

(योगभ्रष्टः) पुरूष (पुण्यकृताम्) पुण्यवानों के (लोकान्) लोकों को अर्थात् स्वर्गादित उत्तम लोकों को (प्राप्य) प्राप्त होकर (शाश्वतीः) बहुत [समाः] वर्षों तक [उषित्वा] वास करके [शुचीनाम्] शुद्ध आचरण वाले [श्रीमतां] श्रीमान् पुरूषों के [गेह] घर में [अभिजायते] जन्म लेता है।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ।। ६/४२

(योगिनाम्) योगियों के (धीमताम्) ज्ञानवान् (एव) ही (कले) कुल में (भवति) जन्म लेता है (ईदृशम्) इस प्रकार का (यत्) जो [एतत्] यह [जन्म] जन्म है [लोके] संसार में (हि) निःसन्देह (दुर्लभतरम्) अति दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरूनन्दन । ६/४३

(तत्र) वहां (तम्) उस (बुद्धिसंयोगम्) बुद्धि के संयोग को अर्थात समत्वबुद्धि-योग के संस्कारों को (लभते) प्राप्त हो जाता है (च) और (पौर्वदेहिकम्) पहले

शरीर में साधन किये हुए (कुरूनन्दन) हे कुरूनन्दन (ततः) उसके प्रभाव से (भूयः) फिर (संसिद्धौ) भगवत्प्राप्ति के निमित्त (यतते) यत्न करता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रम्हातिवर्तते ॥ ६/४४

(सः) वह (वशः) विषयों के (अपि) भी (तेन) उस (पूर्वाभ्यासेन) पहले के अभ्यास से (योगस्य) समत्व बुद्धि रूप योग का (जिज्ञासुः) जिज्ञासु (अपि) भी (एव) ही (हि) निःसन्देह (ह्रियते) भगवत् की ओर आकर्षित किया जाता है। (शब्दब्रम्ह) वेद में कहे हुए सकाम कर्मों के फल को (अतिवर्तते) उल्लंघन कर जाता है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ६/४५

(अनेकजन्मसंसिद्धः) अनेक जन्मों से अन्तः करण की शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुआ (तु) और (प्रयत्नात्) अभ्यास करने वाला (योगी) योगी (संशुद्धकिल्बषः) संपूर्ण पापों से अच्छी प्रकार शुद्ध होकर (ततः) उस साधन के प्रभाव से (पराम्) परम् (गतिम्) गति को (याति) प्राप्त होता है अर्थात परमात्मा को प्राप्त होता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगीज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ६/४६

(योगी) योगी (तपस्विभ्यः) तपस्वियों से (अधिक) श्रेष्ठ है (च) और (ज्ञानिभ्यः) शास्त्र के ज्ञान वालों से (अपि) भी (अधिक) श्रेष्ठ (मतः) माना गया है (कर्मिभ्यः) सकाम कर्म करने वालों से (योगी) योगी (अधिकः) श्रेष्ठ है (तस्मात्) इससे (अर्जुन) हे अर्जुन (योगी) योगी (भव) हो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्तमो मतः ॥ ६।४७

(सर्वेषाम्) संपूर्ण (योगिनाम्) योगियों में (अपि) भी (यः) जो (श्रद्धावान्) श्रद्धावान् योगी (मद्गतेन) मेरे में लगे हुए, (अन्तरात्मना) अन्तरात्मा से (माम्) मेरे को (भजते) निरन्तर भजता है (सः) वह योगी (मे) मुझे (युक्तम्) परमश्रेष्ठ (मतः) मान्य है।

नारायण हरि !

पाठकों से

भगवान श्री वेदव्यास द्वारा रचित श्रीमद्भगवद्गीता के छः अध्यायों को हमने आत्मस्थ किया है। विश्व के महानतम् रहस्य लीलात्मक ग्रंथ, अपनी सम्पूर्ण लीलाओं के साथ, हमारे सामने खुलता चला जा रहा है। जीवन के महाभारत को जिसे हममें प्रत्येक व्यक्ति प्रति क्षण लड़ रहा है। एक सत्य ऐतिहासिक घटनाक्रम को उदाहरणार्थ ग्रहण करके, वेदव्यास ने हमें, हमारा ही परिचय दिया है।

फिर भी बहुत से रहस्य, जिज्ञासाएं और प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं। उनके उत्तर, '**रहस्य लीला जादू और जादूगर**" नामक ग्रंथ में देने का प्रयास किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता की भांति ही "रहस्य लीला जादू और जादूगर" का समापन तीन खण्डों में होगा। प्रथम खण्ड प्रकाशित हो चुका है। श्रीमद्भगवद्गीता के दूसरे खण्ड में ७ से १२ अध्यायों का समावेश होगा तथा तीसरे खण्ड में १३ से १८ अध्यायों का समावेश रहेगा। श्रीमद्भगवद्गीता के मूल पाठ, अर्थ सहित देने के पीछे मूल उद्देश्य मात्र इतना ही है कि पाठक स्वयं शब्द और अर्थों से वेदव्यास द्वारा दी जा रही रहस्य ज्ञान लीलाओं का स्पष्टीकरण संदेह रहित रूप में कर सकें। आशा है कि पाठकगण इसी ग्रन्थ की भांति अन्य ग्रंथों का भी आनन्द लेंगे।

श्री स्वामी सनातन श्री द्वारा प्रवर्णित ग्रन्थ "सनातन दर्शन की पृष्ठभूमि" "सरयू के तट" तथा ऋग्वेद के प्रथम ऋषि मधुच्छन्दा पर सम्पूर्ण भाष्य (मूल ऋचाओं को शब्द और अर्थ सहित) प्रकाशित हो चुका है। आशा हैं पाठकगण इन ग्रन्थों का अवलोकन करेंगे।

—सम्पादक